Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 31, अंक 2
जुलाई-दिसम्बर, 2017

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 31, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2017

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह**, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी**, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह**, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा**, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य**, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा**, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे**, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Recognised by University Grant Commission, Journal Sr. No. 48083

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. यशदेव शल्य : सिसृक्षा का तत्त्व–दर्शन — 5
   मुकुन्द लाठ

2. मार्क्सवाद : सामाजिक डार्विनवाद के सभ्यता विमर्श में मानववादी क्रान्तिधर्मिता — 46
   विश्वनाथ मिश्र

3. रमाकान्त त्रिपाठी का अद्वैत दर्शन — 71
   आनन्द मिश्र

4. भारतीय नीतिशास्त्र का औपनिषद् प्रस्थान और रामचंद्र दत्तात्रेय राणाडे की अभ्युक्तियाँ — 90
   अम्बिकादत्त शर्मा

5. अद्वैतबिन्दुप्रकरणम् — 101
   मूल लेखक – आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
   हिन्दी रूपान्तरकार– *वृजकिशोर त्रिपाठी*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	—	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	—	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	—	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	—	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	—	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	—	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	—	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	—	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	—	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	—	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यशदेव शल्य : सिसृक्षा का तत्त्व-दर्शन

मुकुन्द लाठ

संस्कृति स्वातंत्र्य चाहती है, और इसके लिये वह निरंतर जागरूक आत्मचेतन आत्मविमर्श की अपेक्षा रखती है। स्वतंत्र विचार इसी का लक्षण होता है। विचार के स्वप्रतिष्ठ स्वातंत्र्य के बिना संस्कृति के अपनेपन की नींव दृढ़ नहीं होती। उसकी विभिन्न प्रवृत्तियां, परंपराएँ, व्यवस्थाएँ, अन्य संस्कृतियों से संबंध, उन्हें अपना पाना – ये जिस सिसृक्षा में रूप लेते हैं, वह आत्मस्थ आत्मदृष्टि का फल होता है, विचार में अपने को प्रकट करता है।

आज हममें, पराक्रांति के बाद भी, सिसृक्षा का स्वातंत्र्य है। प्रकट दिखता है। हम अपनी गहरी प्रवृत्तियों में, साहित्य में, कलाओं में, धर्म में, अध्यात्म में, अपने को स्वतंत्र और आत्मस्थित पाते हैं। पर एक विचित्र वैषम्य के साथ। क्योंकि हम अपने को उतने ही गहरे में परमुखापेक्षी भी पाते हैं। जिस विचार में हम आत्मावलोकन करते हैं, अपनी सिसृक्षा को आत्ममंथन का विमर्श और दृष्टि देते हैं, वह परापेक्षी है। यह बात विचित्र और विषम इसलिये भी है कि विचार की – स्वतंत्र, समृद्ध बहुमुखी विचार की – हमारी परंपरा पुरानी है। पर वह मानो हमारी लिये प्रासंगिक ही नहीं रही है। अपनी सिसृक्षा खो बैठी है। इतिहास की–सी बात हो गई है।

विचार कला या साहित्य की तरह ही – संस्कृति के किसी भी सार्थक अंग की तरह – सार्वभौमिक होता हुआ भी संस्कृति–विशेष का प्रतीक और वाहन भी होता है। विचार में आत्मविमर्श स्वभाव–निहित होता है। उसमें आत्मालोचन के साथ सिसृक्षा की गति भी स्वभाव–निष्ठ होती है– अगर हम उसे जगाये रखें। पर विचार की अपनी परंपराएँ भी होती हैं। विचार भाषा में होता है। भाषा संस्कृति–विशेष को सहज कुक्षिगत रखती है। विचार इसके प्रति आत्मचेतन रहता है; वह सार्वभौम होता है, भाषा–सीमित नहीं होता, पर भाषा विशेष के प्रवाह के भीतर रहता हुआ ही सार्वभौम होता है। हम आज अपने प्रवाह से च्युत–से हैं। हमने आज मान–सा लिया है कि विचार के लिये तो पश्चिम ही शरण है; और इससे भी बढ़कर यह कि विचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग्रेज़ी में ही हो सकता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि हमारी यह अनकही, निर्विचार निष्ठा बन गई है कि आज का सार्थक, प्रासंगिक, 'युगानुकूल', 'आधुनिक', विचार बाहर ही होता है, वहीं से आ ही नहीं सकता, वहीं की भाषा में हो सकता है। इसलिये हम अपनी भाषा में भी विचार करते हैं तो अनुवाद की एक ऐसी बोली अपनाते हुए करते हैं जहां विचार के प्रत्ययों और उनके संदर्भ को समझने के लिये पश्चिम का विचार–संभार ही नहीं, पश्चिम की भाषा (हमारे लिये अंग्रेज़ी) ऊह्य (पूर्वगृहीत) रहती है। हमारा अपना स्वतंत्र अधुनातन विचार–संस्कार रूप नहीं ले पाया है, या क्षीण है। इससे हम अवगत भी हैं। श्रीकृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने बरसों पहले विचार के स्वराज की बात की थी, जो हमें चुभती है। पर अब यह भी लगने लगा है कि बात बात–सी ही रह गई है।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी परंपरा में ही आरूढ़ हो लें। पिष्टपेषण करें। गतानुगतिक बने रहें। सिसृक्षा का यह मार्ग नहीं। सिसृक्षा रूढ़ि–मुक्त होती है। परंपरा में रूप लेती हो, पर उससे बँधती नहीं है; बल्कि उसे रूप देती है, बनाती है, नया उन्मेष देकर उसे स्फूर्त, जीवंत रखती है। परंपरा बनती ही सिसृक्षा की नई प्रतिभा से है। सृजन का यह विरोधाभास विदित ही है, वह परंपरा में जन्म लेता हुआ भी परंपरा से ऊपर उठकर, निर्बंध हो कर ही स्फुरित होता है। विचार में यह तत्त्व आत्मप्रकट रहता है। विचार स्वभाव से अपने ही आगे बढ़ने की ओर उन्मुख रहता है : अपने आग्रहों पर, अपने मूल पर प्रश्न उठाते चलना उसका स्वधर्म है। वह स्वभाव से प्रश्नमय ही नहीं, प्रत्यङ्मुख होता है : अपने पीछे हटकर अपने को देखता–परखता चलता है। अपने परे से प्रेरणा भी पाता है।

विचार की यह प्रवृत्ति दर्शन में पूरा जागरूक रूप लेती है – कह सकते हैं कि यही प्रवृत्ति दर्शन का मूल भी है। और यह प्रवृत्ति मूलगत, तात्त्विक, प्रश्नों की ओर सहज ही मुड़ती है : सत् क्या, जगत् क्या, मनुष्य क्या, मनुष्य का श्रेय, उसका सत्य क्या, मनुष्य होने का अर्थ क्या? इन बातों का ज्ञान क्या, ज्ञान की प्रमाणिकता क्या? ये प्रश्न मनुष्य में सहज हैं, मनुष्य की जिज्ञासा को, अर्थ–संधान को ही नहीं, उसकी सिसाधयिषा को केन्द्र में रखते हैं। दर्शन में ये आत्मचेतना की अगाध प्रत्यङ्मुखता पा लेते हैं। विचार के अथाह में उतरता, प्रमाण का सतत संधान करता, अपने को अपने ही ईक्षण के माध्यम से जानता–परखता मनुष्य यहां सत्य–जिज्ञासु होता हुआ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मजिज्ञासु होता है। सत्य की जिज्ञासा उसे सहज ही, आत्मतत्त्व के गभीरतम अवगाहन की ओर ले जाती है; तभी जो मूलग्राही प्रश्न हमें सदा सताता है, वह है : हमारा स्वरूप क्या? साध्य क्या? श्रेय क्या? उसका हमारे सत्य से संबंध क्या? जगत से संबंध क्या?, दर्शन में ये प्रश्न स्फुटतम आत्म–बोध, आत्मपरीक्षा के साथ जागते हैं, जगत् और आत्म विषयक दृष्टियों में रूप लेते हैं; इन दृष्टियों को प्रौढ़, परीक्षित – प्रामाणिक – रूप देने की गहनतम ललक पालते हैं। दर्शन जगत्–विषयक और उससे संश्लिष्ट मनुष्य–विषयक दृष्टियों का आकलन करता है, उनको उभारता है, उनकी सम्भावनाओं को युक्त विस्तार देता है। आज दर्शन की गरिमा क्षीण है, दर्शन का प्रत्याख्यान, उसके सत्य और श्रेय से किसी सार्थक सबंध का निषेध 'दार्शनिकों' में आम है। तत्त्व क्या? वस्तु क्या? सत्य क्या? श्रेय क्या ? ऐसे प्रश्नों को आज बड़े बड़े दार्शनिक असमाधेय ही नहीं, अप्रश्न मानते हैं, बुद्धि के मोह की उपज मानते हैं। सत्य का संबंध विज्ञान से जोड़ा जाता है आज। विज्ञान जड़–भौतिक को ही सत्य मानता है। अचंभा नहीं कि श्रेय फिर संस्कार या इच्छा की बात ठहर जाता है। पर सत्य और श्रेय की जिज्ञासा ऐसी सामयिक श्रद्धा से, विचार की प्रथा विशेष से क्षणप्रलुब्ध, क्षणभ्रांत या विचलित भले ही हो जाये, चुप नहीं हो जाती। आज की परिस्थिति को एक आगंतुक–से चलन की, आये–गये प्रवाह की बात ही समझना चाहिये। यों भी, दर्शन का प्रत्याख्यान कोई नई बात नहीं। आज से भी गहरे प्रत्याख्यान किये गये हैं दर्शन के; धर्म के और अध्यात्म के नाम पर ऐसा किया ही जाता रहा है। सत्य की उपलब्धि 'खटदर्शन में नाहीं', यह चली हुई उक्ति है ही अपने यहां। पर सच यह है कि विचार का प्रत्याख्यान किया नहीं जा सकता : यह हमारे अपने स्वरूप का ही प्रत्याख्यान होगा। और विचार में दर्शन की ओर उन्मुखता स्वरूपेण बनी रहती है। दर्शन में हमारी गभीरतम तत्त्व–जिज्ञासा आत्मचेतन रूप लेती है। हमारी आत्मचेतना स्वभावेन इस जिज्ञासा की ओर मुड़ती है। जिज्ञासा हममें सहज है और सहज ही एक विश्वदृष्टि, आत्मदृष्टि की ओर ले जाती है। दर्शन में यह युक्त, उदार, व्यापक, आत्म–स्वच्छ, पारदर्शी हो जाती है। हमारी सारी जिज्ञासाओं, सारे संधानों के अर्थ को एक सर्वतोग्राही, सर्वतोभद्र सूत्र में पिरो सकता है दर्शन।

हम थोड़ा भी आत्मद्रष्टाभाव रखें तो पाते हैं कि हमारे सारे प्रश्न,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारी खोज, हमारी सत्य का संधान करती आत्मसाध्यता में, हमारी स्वरूप–निहित सिसाधयिषा में, जड़ करते हैं। हम अपनी सारी वृत्तियों–प्रवृत्तियों में अपने को साधते चलते हैं। तत्त्व–जिज्ञासा हमारी गहरी से गहरी प्रवृत्तियों में है। विचार में रूप लेती है। हां, विचार युक्ति का मार्ग है। खंडन–मंडन से चलता है। विप्रतिपत्ति, आत्मप्रत्याख्यान उसकी सहज प्रवृत्ति है। पर इससे विचार का ही प्रत्याख्यान नहीं हो जाता। यह संभव ही नहीं, क्योंकि विचार ही यह प्रत्याख्यान करता है। दर्शन खंडन–मंडन का ही नहीं, दृष्टि का माध्यम होता है। आत्मसाक्षात्कार का माध्यम होता है। हमारी तत्त्व–दृष्टि या तत्त्व–साक्षात्कार हमारे आत्मसाक्षात्कार के अभिन्न अंग हैं। खंडन–मंडन इसी व्यापार के अंग होकर सार्थक होते हैं। आवश्यक यह है कि दर्शन की सार्थक साधना बनाये रखी जाये।

पर सार्थकता सिसृक्षा की मांग करती है। स्वतंत्र सिसृक्षा की। जो शल्यजी में है। शल्यजी एक सर्वतोग्राही व्यापक तत्त्व–दृष्टि की ओर आगे बढ़ते हैं, उसे समर्थ रूप देते हैं। कहना न होगा कि वे तत्त्व–दर्शन के निषेध की प्रवृत्ति का तीखा प्रत्याख्यान करते हैं।

हम पाते हैं कि 'क्या है', और इसी से युगनद्ध, 'क्या होना चाहिये' की जिज्ञासा हमारे भीतर अपने आप दृष्टियों में रूप लेती है। अनिवार्यतः लेती है। हमारे भाषा–प्रयोग में, हमारे व्यवहार में ऊह्य रहती है –कितनी ही अस्पष्ट, अविचारित क्यों न हो। हर संस्कृति की भाषा – या भाषाओं में – इस ऊह्य जगत्–बोध और मनुष्य–बोध की पहचान देखी जा सकती है। यों, सत्य का, तत्त्व का ऊह हममें सहज है। दर्शन में यह ऊह अपने प्रति प्रबुद्ध हो जाता है। प्रमाण और युक्ति का मार्ग अपनाता है; आत्मपरीक्षण के प्रकाश में आगे बढ़ने की लौ पालता है। नये मार्ग, नई गंभीरतर, व्यापकतर दृष्टियों की ओर आत्मचेतन विमर्श के साथ बढ़ सकता है।

युक्ति का मार्ग स्वरूपेण विचार के स्वातंत्र्य की और तन्निहित सिसृक्षा की मांग करता है। हमने अपने यहां विचार में स्वतंत्र सिसृक्षा के अभाव की बात की। आज इस सिसृक्षा में हमारे यहां पश्चिम ही नहीं, परंपरा भी बाधक दिखती है। परंपरा कहती है कि नया हो ही नहीं सकता। पुराने का ही पिष्टपेषण चाहती है, करती है। पर बड़ा चेष्टा–साध्य होता है यह पिष्टपेषण भी। लकीरें बनाई रखनी पड़ती हैं। क्योंकि सच यह है कि हम सचमुच विचार करें, होते आये विचार के प्रतिपादन, प्रस्तुति, निरूपण, या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसके ईक्षण या सर्वेक्षण या इतिहास मात्र से उबरकर अपनी प्रेरणा से, ललक से, सहज स्वातंत्र्य से, विचार कर्म में अभिनिविष्ट हों तो नूतन का द्वार स्वतः खुल जाता है– आगे विचार–दृष्टि का उन्मेष जितनी दूर ले जाये। हो–चुके, होते–आ–रहे विचार की ईक्षा और पुनः प्रस्तुति कितनी ही विमर्शमयी क्यों न हो, होती रूढ़िस्पृष्ट ही है। प्रज्ञा का नवोन्मेष रूढ़ि से निकल कर ही लौ लेता है। बात वैसी ही है जैसे कविता में होती है। कविता का इतिहास या काव्यालोचन, अपने आप में कितने ही महिम क्यों न हों, कविता नहीं हैं। काव्य–सृजन की प्रेरणा और ही होती है। एक भाव–दृष्टि की मांग करती है, जिसे बिंबों में, रूपक–उत्प्रेक्षा में, भाषा की शतवर्ण ध्वनियों में अभिव्यंजित करती है। राग–संगीत में यह बात और भी प्रकट है– राग स्वतंत्र आलाप के बिना बनता ही नहीं, अपने स्वरूप में ही स्वतंत्र रागदृष्टि की मांग करता है। दर्शन भी विचार का उन्मुक्त आलाप चाहता है, पर इसके मूल में रूढ़िमुक्त स्वतंत्र अंतर्दृष्टि की अपेक्षा होती है। दृष्टि जितनी विराट हो, दर्शन उतना ही महत् होता है। दर्शन दृष्टि को प्रत्ययों में, युक्ति के रास्ते रूप देता है; इसके लिये समुचित भाषा भी साधता है, पर यह भाषा ध्वनि या व्यंजना के वक्र मार्ग से हटकर प्रत्यय की, आत्मप्रकट स्पष्टता स्वच्छता–पारदर्शिता की ओर उन्मुख रहती है। समुचित भाषा की साधना कवि भी करता ही है। दार्शनिक अपनी तरह से, एक भिन्न मार्ग से करता है। यहां लक्ष्य है कि शल्यजी हिंदी में स्वतंत्र चिंतन करने लगे तो उन्हें अपने अनुकूल भाषा भी साधनी पड़ी।

शल्यजी हिंदी में ही नहीं, दर्शन परंपरा में ही रूढ़ि–मुक्त स्वातंत्र्य के विलक्षण उदाहरण हैं। उनका दर्शन भारतीय भी है और अपनी सिसृक्षा में अभिनव भी – आधुनिक भी। वे लिखने बैठे तो अनायास ही अपनी भाषा हिंदी को अपनाया। उन्हें सूझा तक नहीं, उनके मन में खटका तक न हुआ कि हिंदी तो दर्शन की भाषा ही नहीं है! दर्शन में उनकी रुचि पश्चिम के विचारों से ही जागी। इसके लिये उन्हें अंग्रेज़ी का अभ्यास करना पड़ा। बर्गसाँ और रसेल (एवं अन्य पश्चिमी वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों को) पढ़ने के लिये उन्होंने अंग्रेज़ी में प्रवेश किया, कोशों की सहायता से उसमें समझ और पकड़ के साथ उतरे। पर स्वयं लिखने बैठे तो अंग्रेज़ी में लिखने की कभी न सोची। जैसे पश्चिम के विद्वान् संस्कृत या यहां की दूसरी भाषाएँ गहराई से सीखते समझते रहे हैं (और अब भी ऐसा करते हैं), पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सोचते–लिखते स्वभावतः ही अपनी भाषा में ही हैं – अपने विचार अपनी ही भाषा में प्रस्तुत करते हैं, अपने प्रत्ययों में करते हैं, और अपने लोगों के लिये करते हैं – यहां के लोगों के लिये नहीं (यह बात और है कि हम भी अपने को उन्हीं की पंगत में रखने लगे हों)। हमारे यहां आधुनिक साहित्य में भी यही प्रवृत्ति रही है। बाहर का असर आया, गहरा आया, पर उसे हमने अपनी भाषा में ग्रहण करते हुए अपना बना कर आत्मभाव के साथ अपनाया। कहना न होगा कि हम आत्मस्थ हों तो यही सहज भी है। पर दर्शन में ऐसा नहीं हुआ। वहां हम अपना आपा पर को दे बैठे हैं।

कहना न होगा कि आज हमारे यहां जो पश्चिमी विचार की ईक्षा और प्रस्तुति का साम्राज्य है, उसे हम चाहे आधुनिकता का नाम दे लें उसे नया नहीं कहा जा सकता है। वह रूढ़ि–ग्रस्त ही है। हां, रूढ़ि हमारी नहीं पश्चिम की है। पर रूढ़ि की गडार अंग्रेज़ी में ही नहीं, हिंदी में (और अपनी दूसरी भाषाओं में) भी देखी जा सकती है, जहां दर्शन अपने ही यहां के पुराने की पुनःप्रस्तुति को अपना धर्म समझता है। नये से उसे विराग है। उसे देखें तो उभरता यह है कि 'भारतीय' – या हमारा अपना विचार – हमारे लिये विगत–में–हो–चुका विचार ही है और वही हो सकता है। उसे हम आज के संदर्भ में आज के अनुकूल रूप देते हुए नये मुहावरों में सामने तो रख सकते हैं, पर उसमें सचमुच नये का कोई अवकाश नहीं है।

नई तरह से इस पुराने को सामने रखने का काम अंग्रेज़ी में भी प्रचुर होता रहा है। वहां यह देखने–दिखाने का प्रयास भी गहराई से जड़ करता है कि, देखो, पश्चिम में जो सोचा गया है, हमारे यहां वह और पहले सोचा जा चुका है! अंग्रेज़ी में लिखनेवाले या तो यहां के पुराने विचार का इतिहास लिखते हैं, या पश्चिम के दार्शनिक मुहावरों में पुराने का निरूपण, मीमांसा, अपनी तरह से पुनर्विमर्श....करते हैं। तुलनात्मक विमर्श करते भी दिखते हैं, पर यहां भी पश्चिम को प्रदत्त प्रतिमान मान कर भारत के दर्शन को उसी के आदर्श पर समझने–समझाने का मार्ग लेते देखे जा सकते हैं। लेखन के पीछे आशय यह झलकता है कि हम आज अपने से ऐसे अपरिचित हो गये हैं कि पराये परिचित (पश्चिम) के घेर में आकर ही अपना परिचय पा सकते हैं : उनकी पंगत में बैठ कर ही अपने को पहचान सकते हैं।

संस्कृत में भी हमारे यहां दर्शन की परंपरा बची है। हालांकि बिलकुल ही हाशिये पर डाल दी गई है : शक्ति, प्रतिपत्ति, प्रचार, साधन,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामग्री, ये अंग्रेज़ी के हाथों में है – राज ही अंग्रेज़ीवालों का है और अंग्रेजी की महिमा बढ़ती जा रही है। पर यहां देखने–सोचने की बात यह है कि संस्कृत में विचार करनेवालों की जो परंपरा बची है, वह चाहे उपेक्षित हो, नितांत अवहेलना की शिकार हो, पर निष्प्राण नहीं हुई है। यह ठीक है कि परंपरा पर चले–आते दार्शनिक की विचार–शैली, विचार–यात्रा, संप्रदायों के पिष्टपेषित रास्तों में ही बहुत कुछ अटकी रहती है, उन रास्तों पर चलना ही अपना मार्ग समझती है, पर उसमें विचार का स्वातंत्र्य दर्शन में हमारे यहां होते अंग्रेज़ी–लेखन से कहीं अधिक और सहज–स्फूर्त है। उनके अपने चले–आते प्रश्न और वाद–विवाद हैं, जिनके भीतर उनकी चिंतन–धारा आगे बढ़ती रही है। आज भी उसी रास्ते चलती है। पर चलती है। आज परिस्थितिवश ठिठक गई हो, रुकी नहीं है। यह बात मैं अपने अनुभव से कह रहा हूं। कुछ साल हुए, पूना के प्रोफेसर रेगे और जयपुर के प्रोफेसर दयाकृष्ण ने पारंपरिक संस्कृत में लिखने–सोचनेवाले दार्शनिकों का और अंग्रेज़ीवालों का संवाद करवाया था, जहां दर्शन के एक आधुनिक रसेल–प्रचारित भाषा और वस्तु संबंधी अभ्युगम – प्रोपोज़िशन – को लेकर लंबी चर्चा–गोष्ठी रखी गई थी।[1] मुझे भी वहां होने का अवसर मिला था। चर्चा के विस्तार में जाने का यहां प्रयोजन नहीं, पर स्पष्ट था, सभी उपस्थित विचारकों के मन में यह बोध था कि संस्कृत के दार्शनिक किसी अर्थ में कम नहीं, अधिक ही ठहरते हैं। अभ्युपगम उनके लिये पराया था, पर भाषा पर और उसके वस्तु–संबंध पर हमारे यहां विचार पुराना है। गहरा है। संस्कृत के विचारकों को नये अभ्युपगम में प्रवेश करते देर नहीं लगी। उसको उन्होंने अपनी तरह से समझा ही नहीं, उनकी दार्शनिक सूझ, उनकी अग्रया बुद्धि, विचार–प्रज्ञा, अंग्रेज़ीवालों से कहीं खुली थी, कहीं सक्षम उन्मेषवती थी। यों, आज हमारी यह परंपरा किसी तरह जी तो रही है, पर हम इसे सचमुच जीवन देना नहीं चाहते, दूर ही रखना चाहते हैं, और दूरतर करते जा रहे हैं; यहां तक कि हम इसे जीवित तक नहीं मानना चाहते! इसमें सचमुच प्राण तभी प्रतिष्ठित हो सकता है जब यह हमारे सजीव विचार का सार्थक अंग बने । दया जी की चेष्टा के बाद इस के प्रति जागरूक जिज्ञासा के कुछ अंकुर जागे थे, पर अब बात कुतूहल–भर की रह गई लगती है। पर दया जी की चेष्टा के पीछे भाव यह भी था कि अंग्रेज़ी में सोचने–समझने वाले इधर ध्यान दें, विचार की इस उपेक्षित पर प्रवहमान परंपरा में उतर कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसे अपने अंग्रेज़ी–निष्ठ विचार में स्फोट दें। दया जी के मन में यह गहरा विश्वास था कि अब हमारे विचार की 'मुख्यधारा' तो अंग्रेज़ी में ही प्रवाहित है, और उसी प्रवाह को हमें उन्मेष देना है; हममें आज अंग्रेज़ी के प्रभुत्व का जो भी कारण हो – चाहे वह आगन्तुक और अयुक्त ही क्यों न हो, पर उससे हम इनकार नहीं कर सकते, इनकार करना भी नहीं चाहिये : अंग्रेजी ही अब हमारी विचार की भाषा है, और रहनी चाहिये, हमें अपने पुराने चिंतन को आज के संदर्भ में जगाना हो तो उसी में जगाना होगा। अपनी चली–आती गहरी परंपरा को आज के संदर्भ में हम गतिशील रखना चाहें तो उसमें वैसे ही उतरना होगा जैसे हम राग–संगीत की परंपरा में गुरुमुखी शिक्षा के माध्यम से उतरते हैं और फिर अपने अनुभव से, अपनी परख और दृष्टि से, अपनी गायकी उभारते हैं। पर यह काम होना अंग्रेजी में चाहिये। यह विश्वास अकेले दया जी का ही नहीं है। फैला हुआ है।

हां, यह भी कह सकते हैं कि गहरा दार्शनिक चिंतन, स्वतंत्र चिंतन, अंग्रेज़ी में भी हुआ है। श्री अरविंद इसके महिम उदाहरण हैं। पर उन्हें अपवाद ही समझना चाहिये। उनसे यह नहीं निकलता कि हम अंग्रेज़ी को समर्पित हो जाएँ। यह भी युक्ति इस संदर्भ में दी जाती है कि हमारी अपनी भाषाएँ चिंतन–क्षम नहीं हैं। उनमें चिंतन की कोई समर्थ परंपरा नहीं। पर इस युक्ति में कोई सार नहीं। परंपराएँ बनती हैं। बनाई जाती हैं। अंग्रेज़ी में भी यही हुआ है। अपने यहां के आज के साहित्य को ही देख लें, जहां हमने नई परंपरा को आत्मस्थ रूप दिया है। सच पूछिये तो हमारे लिये हमारी अपनी भाषाएँ ही अधुनातम और व्यापकतम विचार का समीचीन माध्यम हो सकती हैं, क्योंकि ये बाहर–भीतर दोनों ओर खुली हैं। दोनों ओर उन्मुख हैं: हमारी भाषाएँ एक ओर जहां संस्कृत की समृद्ध दार्शनिक परंपरा में जड़ रखती हैं, वहीं बाहर को आत्मसात् करने में भी सशक्त हैं। साहित्य में हम यह देखते ही हैं।

और फिर ऐसा भी नहीं है कि हिंदी में (और हमारी अन्य भाषाओं में) दार्शनिक लेखन का अभाव हो। भाषाओं में लिखनेवाले ऐसे विद्वान् कम नहीं हैं जो संस्कृत की परंपरा से घनिष्ठ हैं– भीतर से इसे जानते हैं– और इसे अपनी तरह से प्रस्तुत करते हैं। यह बात और है कि उनमें विद्वत्ता ही अधिक दिखती है, विचार का स्वतंत्र उन्मेष नहीं। पर यह बात तो अंग्रेज़ी के साथ भी उतनी ही सच है। बस प्रभुत्व का पलड़ा उधर झुकता है आज। पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रभुत्व का पलड़ा यादृच्छिक होता है। उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। काल किधर ले जायेगा, हम जानते ही कितना हैं! पर उसी में हम अपनी स्वतंत्र यात्रा भी साधते ही हैं। कहना न होगा कि इस यात्रा का आधार युक्ति और विवेक होना चाहिये, इतिहास की यदृच्छा–जन्य परिस्थिति के आगे अवनति नहीं। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने जो विचार के स्वराज की बात की है, उसमें स्पष्ट ही अपनी भाषा की ओर इंगित है : स्वराज स्वभाव और स्वधर्म के अनुकूल ही हो सकता है; अंग्रेजी को अपनाना – और वह भी विचार में, जहां हम अपनी गहरी से गहरी आत्मनिष्ठ प्रेरणा को रूप देते हैं – यह परधर्म ही है।

अपनी भाषा में लिखने वाले विद्वानों के कारण ही हिंदी में पुराना संस्कृत में किया हुआ विचार प्रचुर उपलब्ध है। रस–अलंकार परंपरा का पठन–पाठन तो जमकर होता रहा है। अलंकार–शास्त्र या, रस–परंपरा के कई ग्रंथों के अनुवाद और व्याख्याएँ की गई हैं। यहां तक कह सकते हैं कि इस परंपरा के ग्रंथों के अनुवाद और इनकी परंपरा–निष्ठ मीमांसा–व्याख्या ही विशेष प्रचार में है। पर अलंकार–दर्शन के ही नहीं, अन्य दर्शनों के – जिसे दर्शन का राजमार्ग कह सकते हैं – उसके भी बहुसंख्यक ग्रंथ हिंदी–लेखन की इस आधुनिक परंपरा में उपलब्ध हैं। पर यह परंपरा अपनी तरह की विद्वत्ता की ही परंपरा है, वैसे ही जैसे अंग्रेज़ी की भी सदृश और अपनी तरह से परंपरा को प्रस्तुत करती समतुल्य प्रथा है। यहां स्वतंत्र विचार की चेष्टा नहीं। विचार का कोई स्वतंत्र उभार यहां नहीं दिखता, जो संस्कृत की अवशिष्ट परंपरा में फिर भी प्रवाहित है। पर इस परंपरा की संभावना पर दृष्टि रखें। इसे अपनी भाषा में स्वच्छंद विचार के द्वार के रूप में भी देखा जा सकता है। इस उपलब्ध संभावना को हम उन्मीलित कर सकते हैं, उसे स्वातंत्र्य के साथ नये रूपों में ढाल सकते हैं। हिंदी की यह प्रतिष्ठित परंपरा नई सिसृक्षा को सहज ही सहारा दे सकती है।

मूल अवरोध यह है कि हमारा मानस ही मानो बन गया है कि हमारे यहां तो विचार जो होना था हो चुका है। वह विशद है, गंभीर है, व्यापक है, पर साथ ही परिपूर्ण और परिसिद्ध है, उसमें नया कुछ नहीं जुड़ सकता; नया उसको विकृत ही कर सकता है, उन्मीलित नहीं। वह बहुमूल्य है, पर है विगत की ही बात। आज उसे हम समझने–समझाने की ही बुद्धि पाल सकते हैं – उसे आगे बढ़ाने का कोई अर्थ नहीं बनता। उसमें नये का अवकाश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। आज का सार्थक 'साम्प्रतिक' 'आधुनिक' विचार हमें चाहिये तो वह पश्चिम से ही आ सकता है। वही आज 'विश्वजनीन' ही नहीं है, 'प्रासंगिक' है। प्रकट ही यह आत्महीनता का लक्षण है। विचार सब समय, सर्वत्र, विश्वजनीन ही होता है, जैसे कला, साहित्य...........विश्वजनीन होते हैं। कला, साहित्य की तरह ही विचार भी देश–काल–पात्र के अपनेपन से उपरंजित होता है, पर यह विश्वजनीनता का भूषण ही होता है, दूषण नहीं। इसके बिना विश्वजनीनता रूप ही नहीं ले सकती। पर हम किसी संस्कृति विशेष को विश्वजनीन मान बैठें, जैसा हमारा पश्चिम के प्रति भाव है, तो अपनी विश्वजनीनता तो हमने मूल में ही अन्य–समर्पित कर दी! लेकिन भूलना न चाहिये कि हम अपनी ओर कभी भी मुड़ सकते हैं। इसका अर्थ अन्य की उपेक्षा, अनदेखी नहीं होती। आत्मोन्मेष की लौ होती है।

हमारी किसी भी प्रवृत्ति की तरह चिंतन सिसृक्षा और नूतन की एषणा पालता है। पर इस एषणा में एक विरोध जैसा भी है, जिसे हम जानते ही हैं : यह परिस्थिति से, परंपरा की गतानुगतिकता से, ऊपर उठ कर ही फलवती होती है। परिस्थिति अनुकूल हो तो इसे प्रश्रय मिल सकता है; पर होती यह कारण–मुक्त ही है। परिस्थिति, परंपरा में रहते हुए हम इसके लिये एक चेष्टा पालते हैं – पर जानते हैं कि इसका अपना स्फोट है, अपना अद्भुत स्वातंत्र्य है, जो हमारी चेष्टाओं से अछूता रहता है। स्वातंत्र्य की बात और स्वातंत्र्य का होना दोनों में तात्त्विक भेद है। शल्य जी के आत्मनिष्ठ स्वातंत्र्य की विलक्षणता इसी होने में है। यह भी ध्येय है कि शल्य जी के तत्त्वदर्शन का मर्म भी सृजन की धारणा में है (जैसा हम अभी आगे देखेंगे)।

शल्य जी की दर्शन के प्रति प्रेरणा पश्चिम के विचार से ही जागी। उन्होंने बर्गसाँ का क्रिएटिव इवोल्यूशन पढ़ा। और दर्शन की ओर मुड़ गये। एक ग्रंथ भी लिखा, मनस्तत्त्व, जिसे शल्यजी अपनी 'तुतलाहट' की रचना बताते हैं। फिर रसेल के अनुभववाद में रुचि हुई। इस दर्शन को अपनी तरह से प्रतिपादित करते हुए आपने 1959–60 में दार्शनिक विश्लेषण की रचना की। अब तुतलाहट नहीं रही थी। भाषा पर अच्छा अधिकार हो गया था। ग्रंथ की दार्शनिकों में अच्छी सराहना भी हुई। पुरस्कार भी मिला।

बर्गसाँ और रसेल (एवं अन्य पश्चिमी वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों को) पढ़ने के लिये शल्य जी ने अंग्रेज़ी में प्रवेश किया, कोशों की सहायता से उसमें समझ और पकड़ के साथ उतरे, पर उसमें लिखने की कभी न सोची।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसे पश्चिम के विद्वान् संस्कृत या यहां की दूसरी भाषाएँ गहराई से सीखते समझते रहे हैं (और अब भी ऐसा करते हैं), पर लिखते अपनी भाषा में ही हैं– अपने विचार की अभिव्यक्ति अपनी ही भाषा में, अपने प्रत्ययों में करते हैं, और अपने लोगों के लिये करते हैं– यहां के लोगों के लिये नहीं (यह बात और है कि हम भी अपने को उन्हीं की पंगत में रखने लगे हों)। कहना न होगा कि हम आत्मस्थ हों तो वही सहज है जो शल्य जी ने किया (हमारे साहित्य में यही हुआ ही है), पर हम अपना आपा ही किसी और को दे बैठें तो बात और हो जाती है।

पर अनुभववाद से शल्यजी की तत्त्व–जिज्ञासा को, उनकी दार्शनिक मनीषा को तुष्टि नहीं मिली। कुछ गहरे प्रश्न तो दार्शनिक विश्लेषण लिखते समय ही जाग उठे थे (और पुस्तक के अंत में उठाये गये हैं), पर आगे चलकर आत्म और जगत् को समझने में इस दृष्टि की 'विपन्नता' का बोध बढ़ता गया (मनुष्य की साध्यता, उसके श्रेय बोध के प्रति तो यह दृष्टि अंधवत् है)। शल्यजी आदर्शवाद – या कहिये, प्रत्ययवाद – की ओर झुके और उनका प्रौढ दर्शन वेदान्त से उभरी एक स्वतंत्र दृष्टि में बसा है, जहां प्रत्ययवाद एक अभिनव सृजनात्मक रूप लेता है। 'प्रत्यय' शल्यजी में प्लेटो की तरह जगत् से विच्छिन्न, अछूता, विचार के अपने किसी ऊर्ध्व–लोक में, व्योम में – बसता हुआ पदार्थ नहीं है, जगत् जिसकी मिथ्या छायामात्र है। प्रत्यय जगत् में, प्रत्यक्ष जगत् में –रूप लेता है। यह हम अपने सृजन के अनुभव में देख सकते हैं। घट को ही लीजिये जो जगत् में स्वतः प्राप्त–प्रदत्त वस्तुओं के लिये दार्शनिकों का मूर्धन्य–सा उदाहरण है। थोड़ा भी सोचें तो यह तत्त्व जाग उठता है कि घट प्रदत्त नहीं, सृष्ट है। मनुष्य–सृष्ट। और इस सृष्टि के मूल में प्रत्यय है – ऊह है, या कल्पना कहिये, ऐसी कल्पना जिसे 'घटत्व' का नाम दिया जा सकता है, जो भौतिक उपादान के माध्यम से घट का रूप लेती है। स्पष्ट ही, घट–कल्पना के बिना घट संभव नहीं। यह कल्पना किसी घट विशेष की नहीं होती है, घटत्व का सामान्य प्रत्ययमय अरूप बोध ही जागता है इसमें। संभावना के रूप में एक आदर्शबोध के साथ जागता है। घटत्व प्रत्यय के साथ जागता आदर्श–बोध एक निरवद्य–भाव पालता उभरता है, जिसे प्लेटो से जोड़ा जा सकता है : प्लेटो के प्रत्यय में सत् से ही नहीं, शिव से अनुप्राणित एक निरवद्य, निर्दोषता का भाव है जो वस्तु–सृष्टि का रूप नहीं लेता पर रूप का उत्स कहा जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। शल्यजी के लिये प्रत्यय सृष्टि का बीज है। वह सृजन के आरंभ में ही निर्दोष आदर्श का भाव पालता हुआ असीम संभावनामय होता हुआ जागता है। हम अपने सृजन–व्यापार में इसका अनुभव करते ही हैं। हम पाते ही हैं कि सृजन–कल्पना–जन्य रूपों में एक ओर जहां उत्कर्ष–अपकर्ष का बोध सहज होता है, वहीं संभावना के असंख्य द्वार भी खुले दिखते हैं। अनुभव को आगे रखें तो सहज ही देख सकते हैं कि हमारी सृजन–कल्पना में एक नहीं अनेक रूपों की उन्मुखता सहज होती है। हर रूप में सृजन निरवद्य की ओर बढ़ने की ललक पालता दिखता है, जिसे हमारी प्रत्ययमयी सृजन–कल्पना की आदर्शमयता का प्रकट लक्षण कह सकते हैं। पर प्रत्यय में रूप लेती कल्पना अपने आप में कोई रूप नहीं रखती, सर्वथा अरूप होती है। रूप की जनक होती है पर स्वयं इसका कोई रूप नहीं होता। इसे निराकार चिन्मय प्रतिमान कहा जा सकता है। तभी संभावना का आनन्त्य पाल सकती है। निरवद्यता का आदर्श पाल सकती है। घट को ही लीजिये । उसकी संभावनाएँ सहज कल्पनीय हैं, और दिखता ही है कि कुछ ही भौतिक रूप ले पाती हैं – इन रूपों के नेपथ्य में ही नहीं, इन रूपों के भीतर ही, संभावना का निस्सीम में बसा रहता है। और हर संभावना को रूप देनें में हम दोष–हीनता सहज ही साधते हैं : यह भी बोध में जागता रहता है। प्रकट ही घट–प्रत्यय की अपनी सत्ता है जो देश–काल से परे है, जिसका सत्, जिसका अपना 'होना' हमारी सृजन–कल्पना को प्रेरित करता हुआ साक्षात् रूप लेता है; तभी इसके बिना देशकालगत 'भौतिक' घट अकल्पनीय है। अपने ही सृजन–व्यापार पर थोड़ा भी मनन करें तो दिख जाता है कि जिस कल्पना को हम रूप देना चाहते हैं, उसका कोई रूप नहीं होता, पर वही रूप का उत्स होती है, यों मानो कि वह है, संभावनामयी, आदर्शमयी है, पर सिद्ध नहीं, साध्य स्वरूप है ।

एक मूलगत प्रश्न यहां सहज ही उठता देखा जा सकता है जिसे शल्य जी के चिंतन, उनकी तत्त्व–दृष्टि के मर्म में रखा जा सकता है : घट का – किसी निर्मित या सृष्ट वस्तु का, अगर कोई निरवद्य रूप होता है तो होता कहां है, उसके होने का अर्थ ही क्या? स्पष्ट ही वह किसी प्रदत्त मान–चित्र जैसा कुछ नहीं हो सकता, अपने सृजन में हम जिसकी प्रतिकृति साधते हों। हम अपने सृजन–कर्म के प्रति थोड़े भी आत्मचेतन हों तो देख सकते हैं कि ऐसा कुछ नहीं होता। घट की संभावनाएँ, उसका निरवद्य रूप,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारी कल्पना को अनुप्राणित करता है, पर सिद्ध–प्रदत्त कुछ नहीं होता, वह स्वरूपेण निराकार ही नहीं, स्वरूपेण साध्य बना रहता है। सच यह है कि उसके बारे में 'होने' की बात ही अटपटी है। किसी भी अर्थ में उसे 'है' कहना बनता नहीं है : यों उसे किसी भी तरह 'वस्तु' की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती। वह अवस्तु ही होता है। पर एक अद्भुत विरोधाभास के साथ वस्तु–गर्भ भी होता है। वस्तु की अनंत संभावनाओं का उत्स होता है। उनके निरवद्य रूप का प्रतिमान होता है ।

लक्ष्य है कि यह बात शल्यजी को प्लेटो से बहुत दूर कर देती है: प्लेटो में प्रत्यय निरवद्य होता हुआ एक अतिभौतिक प्रत्यय–लोक में 'रहता' है। वह अवस्तु नहीं होता, उलटे वही वस्तु होता है; प्राप्त रूप जो उसकी छाया है, प्रतीति के रूप में उपलब्ध है, उसे अवस्तु कहा जा सकता है पर प्रत्यय को नहीं। प्लेटो का पश्चिम के दर्शन पर गहनतम प्रभाव विदित ही है। यह भी विदित है कि भौतिक–लोक के प्रतिमान पर प्रतिपादित प्रत्यय–लोक जैसी अनहोनी 'कल्पनाओं' ने आज प्रत्यय–वाद को ही नहीं, दर्शन मात्र को खामखयाल की कोटि में रखने की दिशा ली है। शल्यजी तत्त्वैषणा की इन्द्रिय–गम्यता से ऊपर उठी विचार–गम्य की अगाधता को पूरा स्वीकार करते हैं, पर प्रत्यय–लोक जैसे किसी भौतिक–सदृश अतिभौतिक लोक के अस्तित्व से सर्वथा इनकार करते हैं। उनका प्रत्ययवाद उनके अपने स्वतंत्र वेदान्त–चिन्तन में निष्ठ चित्–सत्तावाद से घनिष्ठ है, सत् जहां चित् का आत्मसर्जन है ।

आगे की चर्चा में हम इस बात का कुछ विस्तार करेंगे।

पर यहां यह भी देखते चलिये। घट के विषय में पुरानी और बड़ी मान्य–सी उक्ति है कि सत् घट नहीं मिट्टी सत् है, घट तो मिट्टी का विकार मात्र है, कल्पना है, नाम–रूप है ('कल्पना' यहां मिथ्या का पर्याय है)। पर फिर यह सोचिये कि मिट्टी तो घट के लिये उपादान मात्र है; उपादान दूसरा भी हो सकता है – लोहा, पीतल, पत्थर, काँच.... । घट घटत्व प्रत्यय के बिना संभव नहीं : उसका घट–रूप होना, घटत्व प्रत्यय की अनिवार्य अपेक्षा रखता है। उसके होने का मर्म उसके प्रत्यय में ही है। और घटत्व–प्रत्यय आदर्शमयता के साथ बहु–संभावनामयता भी पालता दिखता ही है : हमारा अनुभव साक्षी है कि घट कई रूप लेता है, और हर रूप में हमारा रूपायण–कर्म निरवद्यता की ओर उन्मुख रहता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यय के सत्य से इनकार दर्शन में साधारण सी बात है; नई बात भी नहीं। दार्शनिक इन्द्रिय–प्रदत्त, देशकाल–गत भौतिक, स्थूल, दृश्य–स्पृश्य जगत् को ही वास्तव मानने की ओर झुकते रहे हैं। शल्यजी कांट से एक पते का उदाहरण देते हैं। कांट कहता है कि कौन नहीं जानता कि जेब में रखा रुपया ही सच है, विचार में, कल्पना में आया रुपया जो रुपये का प्रत्ययमात्र होता है, वह सच नहीं! पर सोचिये। रुपये के प्रत्यय बिना जेब का रुपया रुपया ही नहीं हो सकता! और रुपया ही क्यों, हमारे बैंक, हमारी सरकारें, हमारी सारी रहनी – हमारा व्यवहार, हमारे संबंध, हमारा जीवन ही – प्रत्यय के बिना अकल्पनीय है। (इससे यह भी उभर आता है कि प्रत्यय – सृजन–कल्पना–मूलप्रत्यय – सामान्य तो होता है, पर सामान्य–मात्र नहीं होता, क्योंकि सामान्य तो प्रदत्त के सादृश्य को आधार बनाकर बुद्धि का उद्ग्रहण (ऐब्स्ट्रैक्ट) भी हो सकता है, जैसे कीचड़–त्व। हम रहते ही प्रत्यय–निर्मित जगत् में हैं पर यह नहीं देख पाते कि निर्मित–वस्तु और प्रकृति–प्रदत्त वस्तु में तात्त्विक भेद होता है। प्रत्यय के बिना निर्मित वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। इस तत्त्व की ओर दार्शनिकों ने ध्यान नहीं दिया है : निर्मिति और प्रदत्त को एक ही कोटि में रख देने की प्रवृत्ति विचार–परंपरा में प्रकट है। शल्य जी ने इस भेद को बड़ी सूझ और गहराई के साथ उभारा है।

पर विचार यह दिशा ले तो उसके व्यापकतर आशय की ओर भी लक्ष्य किया जा सकता है। हम प्रकृति में भी प्रत्यय–सृष्टि को उपलब्ध करने की दिशा में सहज ही बढ़ सकते हैं। जीव–जातियां को तो सहज ही प्रत्यय–सृष्ट देखा जा सकता है : हर जाति की संभावनाओं को, उनमें होते उत्कर्ष–अपकर्ष के भाव को ही देखें! हमारी अपनी प्रत्यय–प्रसूत सृष्टि की तरह ही हर जाति में ही उत्कर्ष–अपकर्ष का बोध अनायास है। जीव–जातियों के विकास–क्रम में यह बोध स्फुटतर है। क्रम की धुरी पर मनुष्य है, जिसमें आत्मचेतना सृजन के एक नये, सर्वथा अपूर्व स्फोट की तरह रूप लेती उभरती है। जगत् हमारी सृष्टि नहीं, पर हम अपने भीतर उभरते सृष्टि–तत्त्व के प्रति आत्मचेतन हों तो अपने भीतर सृष्टि के स्वरूप की व्यंजना पा सकते हैं, अपने सृजन व्यापार को उसके प्रतीक के रूप में देख सकते हैं।

यह भी देखिये कि अपनी निर्मितियों को, सृष्टियों को, हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मसृष्ट होते हुए रूप देते हैं। सर्जक आत्मसृष्ट होता हुआ सृष्टि करता है। तभी हम अपनी निर्मितियों में रहते ही नहीं, बड़े मर्म–गत अर्थ में हम वही होते हैं। अपने को बनाते हुए अपनी निर्मितियों को बनाते हैं हम। हम संस्कृति में रहते हैं : अपने आत्मनिर्मित जगत् में। संस्कृति को हम ही रूप देते हैं। यह 'दिया–जाता रूप' हमारे भीतर ही उभरता हुआ बाहर प्रकट होता है, बल्कि, यह 'भीतर–बाहर' एक ही व्यापार का अभिन्न युगनद्ध अंग होता है – जहां हम अपने को बनाते हुए, अपना संसार बनाते हैं। तभी हम पाते हैं कि हम ही संस्कृति को रूप नहीं देते, संस्कृति भी हमें रूप देती है। पर इससे यह भी व्यंजित है कि हमारा आत्मसर्जन हमारे स्वरूप पर व्याप्त है, तलस्पर्शी है; उसे हमारे होने का मर्म कहा जा सकता है। ज्ञान, कर्म, भाव, हमारी सभी वृत्तियों में आत्मसर्जन देखा जा सकता है। इन्हीं का व्यापार हमें रूप देता है, अर्थ देता है (संस्कृति इसका प्रतीक है)। हमारा ज्ञान, हमारा भावन, हमारा संकल्प, इन्हीं में हम होते हैं, इन्हें रूप देते हुए इनमें होते हैं। प्रत्यय की धारणा को सहज ही व्यापक करते हुए देखा सकता है कि यह सारा व्यापार प्रत्यय–मूलक व्यापार है। हमारी प्रत्यय–चेतना व्यापक है। हमारे सम्पूर्ण पर, ज्ञान, भाव, कर्म, सब पर व्याप्त है ।

ज्ञान को लीजिये, जहां हम विषय को सिद्ध–प्रदत्त, 'यथातथ'– जैसा वह अपने आप में है वैसा ही उसे 'जानने' की ओर मुड़ते हैं। पर ज्ञान की बात विचार के बिना बेमानी है। यह कथन अयुक्त लग सकता है; इसमें यह वैषम्य तो अनायास ही देखा जा सकता है कि विचार विषयिनिष्ठ होता है, जबकि विषय का याथातथ्य विषय–निष्ठ होता है। उस याथातथ्य का निर्विकार ग्रहण ही उसका सम्यक् ज्ञान कहला सकता है; विचार ऐसा करने में समर्थ नहीं, वह सामान्य विकल्पों में – प्रत्ययों में – होता है, उसका प्रदत्त से कोई प्रत्यक्ष सन्निकर्ष नहीं होता। गृहीत पर सहज ही संशय कर सकता है। स्वरूप से ही संशय–प्राण है विचार, अपने पर भी संशय कर सकता है, करता रहता है। अपना ही अलग संसार गढ़ता है। एक नहीं, अनेक संसार गढ़ता है – उसका व्यापार स्वभाव से ही विप्रतिपत्ति–ग्रस्त होता है। उसे यथातथ ज्ञान का साधन कहा ही नहीं जा सकता। पर फिर यह सोचिये। ऐसी बात हम इन्द्रिय–ज्ञान को ज्ञान का प्रमाण मान कर करते हैं। इस मानने के पीछे यह ऊह्य रहता है कि विषय विषयी से सर्वथा अस्पृष्ट, सर्वथा पृथक् कुछ होता है और इन्द्रिय ही स्वभावेनविषयोन्मुख रहती हुई उसका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यथातथ ग्रहण कर सकती है : उसके ग्रहण का स्वरूप ही ऐसा है कि विषय उस पर स्वतः, स्वरूपेण उभर आता है। विचार के लिये यह बिलकुल संभव नहीं। स्पष्ट ही, उसका विषय से कोई संस्पर्श नहीं होता। उलटे, विचार का व्यापार जितना आगे बढ़ता है, विषय से दूरतर होता चला जाता है, अपने ही भीतर व्यस्त होता जाता है।

पर विचार कीजिये। हम पाते यह हैं कि इन्द्रिय—सन्निकर्ष विषय का संकेत करता है, उसका ज्ञान नहीं देता – ज्ञान इन्द्रियो को नहीं होता। ज्ञान विषय के अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है। अध्यवसाय के बिना वह 'जानने' की कोटि में ही नहीं आ सकता। अब, अध्यवसाय, स्पष्ट ही, विचार—चेतना का अंग होता है। जो चेतना विचार—क्षम नहीं होती, जैसे पशु—चेतना, उस चेतना में विषय—ज्ञान की बात ही नहीं की जा सकती, विषय वहां स्वतंत्र विषयत्वेन जागता ही नहीं है, क्योंकि इसके लिये विषयी का विषय से तटस्थ हो पाना आवश्यक है, और यह ताटस्थ्य विचार—चेतना की अपेक्षा रखता है, उसी चेतना में बनता है। पशु—चेतना का विषयी विषय—सात होता है। विषयी से भिन्न विषय की अपनी स्वतंत्र सत्ता वहां रूप नहीं लेती। वहां 'ज्ञान' की बात ही कोई अर्थ नहीं रखती। सच यह है कि विषयी विषय से अपने को अलग न कर पाये तो 'ज्ञान' की कोटि ही नहीं बनती। यह कोटि बनती ही उस आत्मचेतना में है जो विचार—क्षम होती है, प्रत्ययों के माध्यम से देखती है। ज्ञान के लिये जो ताटस्थ्य अनिवार्य है, वह उभरता ही नाम में, प्रत्यय में, और यों विचार—चेतन चेतना में है। नाम को – और यों अध्यवसाय को – विचार की पहली सीढ़ी भी कह सकते हैं। नाम सामान्य होता है : प्रत्यय होता है, या विकल्प कहिये। उसके साथ ही प्रश्न, संशय, विमर्श, मीमांसा....... प्रत्यय—चेतना का यह विचार—संसार खुल जाता है। यह ज्ञान का ही अंग है। प्रत्यय—व्यापार को ज्ञान से निकाल दीजिये, तो फिर बचता ही क्या है! ज्ञान होता ही विकल्पों में है और प्रत्यय—दृष्टि – या जिसे विकल्प—दृष्टि कहा गया है – उस दृष्टि के बिना इन्द्रिय—लब्ध 'ज्ञान' की भी बात नहीं हो सकती। हां, यह ठीक है कि बाह्य—जगत् के लिये इन्द्रिय का 'प्रमाण' आवश्यक है। पर दुहराना न होगा कि इन्द्रिय—प्रदत्त वस्तु क्या है इस ज्ञान रूपी अध्यवसाय के लिये इन्द्रिय संकेत—मात्र ही होती है। ज्ञान में हम रूप को नाम देते हैं, जो विचार—चेतना का, या कहिये, विकल्प—चेतना का – काम है। विकल्प—ज्ञान ही प्रमाण का अपेक्षी हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। इन्द्रिय को हम 'प्रमाण' कहते हैं। पर उसका प्रमाणत्व विकल्प–चेतना के लिये ही होता है। प्रमाण स्वप्रमाण का अपेक्षी रहता है, और यों प्रमाण की कोटि बनती ही इन्द्रिय से ऊपर उठकर है : विषयी के उस स्वातंत्र्य की अपेक्षा रखती है, जो विचार–चेतना में विषय–ताटस्थ्य के साथ जागता है। प्रमाण विमर्श का विषय होता है, और विमर्श विषयी में स्वातंत्र्य के साथ उस आत्मचेतन प्रत्यङ्मुखता की अपेक्षा रखता है जो विषय से तटस्थ हो, 'क्या है, है या नहीं है' इसे जाँचने–परखने में आत्मतंत्र हो। आत्मपरीक्षा में समर्थ हो। प्रत्ययों में जागती विचार–चेतना के बिना यह संभव नहीं। यह विचार–चेतना हममें आत्मचेतना के साथ जागती है। आत्मचेतन विषयी स्वरूपेण प्रत्यङ्मुख होता है; वह अपने आप को भी – अपने विषयी – भाव को भी विषय बनाता हुआ अपने द्रष्टृ–भाव में अपने पीछे हटता चला जाता है। उसकी यही वृत्ति विचार में प्रकट होती है। इस वृत्ति में ही चेतना की उस तटस्थता का, उसके प्रमाण–उन्मुख स्वातंत्र्य का मर्म है जो ज्ञान में ऊह्य है। विचार–चेतना में आत्मचेतन विषयी ही विषयिता के विषय–सात् भाव से ऊपर उठ कर विषय को स्वतंत्र विषय–रूपेण देख–जान सकता है; विषयों के संबंधों को देख–परख सकता है, जो ज्ञान का अभिन्न अंग होते हैं। विषयसात् चेतना हम पशु में ही नहीं, अपने राग–द्वेष में, भोग–चेतना में भी पाते ही हैं। हम यह जानते भी हैं ही कि विषय के विषयत्व को जानने के लिये इस विषय सातचेतना से हटना अनिवार्य है। इन्द्रिय में यह सामर्थ्य नहीं। मनुष्य की पशु–भिन्न आत्मचेतना ही विषयी को इसके लिये समर्थ बनाती है। आत्मचेतना स्वरूपेण भाषा और तन्नद्ध विचार से युगनद्ध होती है। विषय को विषय–रूपेण जानने की यह आधारगत अपेक्षा है ।

'जानना' ज्ञान–विषय के अर्थ का जानना होता है। विचार–चेतना विषय को – इन्द्रिय–दत्त विषय को भी, प्रत्ययार्थ के रूप में सृष्ट करती है। प्रत्ययों में होता 'ज्ञान' सहज ही एक प्रत्यय–तंत्र बुनता चलता है, उसे बढ़ाता है, विराट से विराटतर बनाता है। विविक्त विषय का ज्ञान भी ऐसे तंत्र के भीतर ही उभरता है, और जितना प्रत्यय–सात् होता जाता है, उतना ही स्फुटतर, सार्थकतर होता चलता है। संबंधों को आधार बनाकर एक बुनावट बुनता चलता है ज्ञान, जो बुनावट स्वरूपेण एक विचार–तंत्र का रूप लेती है। यह तंत्र अपना स्वतंत्र अवयवित्व पालता है, एक बहुस्यूत अवयवी खड़ा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने की ओर स्वरूपेण उन्मुख रहता है। यह अवयवी संभावनामय होता है, कई रूप ले सकता है (लेता ही है) और सत्य का निरवद्य आदर्श पालता है। इस व्यापार को सृजन के रूप में देखना सहज ही सार्थक ठहरता है। कल्पना की भूमा, उसकी प्रसृत दृष्टि इस व्यापार में ऊह्य है।

इसे विषय के विषयि–सात् होने का व्यापार भी कह सकते हैं। पर इसे किसी भी हेय अर्थ में विषयि तंत्र – या पुरुष तंत्र– व्यापार का नाम देना सर्वथा अनुचित, अयुक्त होगा। क्योंकि यह सारा व्यापार प्रमाण–तंत्र होता है। तभी हम इसे ज्ञान व्यापार कहते हैं। और तभी इसमें भ्रम की संभावना बनी रहती है। फिर हम यह भी पाते हैं कि विषय जितना विषयी की प्रत्यङ्मुख विचार–चेतना में समाता चलता है, उसका 'अपना' होता चलता है, विषय का अपना स्वतंत्र रूप उतना ही उज्ज्वलतर होता चलता है। या यों कहिये कि विषय जितना बुद्धि का, विचार–चेतना का – और यों विषयी की अपनी पकड़ का विषय बनता है उतना ही उसका स्वरूप प्रकट होता उभरता है।

यों इस सृजन–व्यापार को विषयी के उस परत्व की ओर बढ़ता भी देखा जा सकता है, जहां चेतना के परम सामान्य का, चित् का, संकेत मिलता है। इसमें हम चित् से सत् के उत्सृष्ट होने की व्यंजना भी पा सकते हैं।

पर, हां, पूर्वपक्ष लेते हुए हम कह सकते हैं, कि यह व्यापार, इसे जितने भी वितत रूप में क्यों न देखें, यह सृजन का नहीं, अव्यक्त के व्यक्त होने का व्यापार है – अन्यथा सत्य की बात नहीं की जा सकती। सत्य सृष्ट नहीं होता। हमारे जानने पर निर्भर नहीं करता, अपने आप में होता है, स्वप्रतिष्ठ होता है। नहीं तो सत्य नहीं होगा। तभी सत्य के 'आविष्कार' की बात की जाती है। उसके अनावृत से आवृत होने की बात की जाती है। यही उचित है। लेकिन सोचिये। अव्यक्त – या आवृत – क्या है, यह व्यक्त होने पर ही उभरता है। उसका अपने आप में होना क्या है, यह चेतना के जिस व्यापार के भीतर से उभरता है, उसमें हमने देखा कि हम सृजन–धर्म का साक्षात् कर सकते हैं। ज्ञान का व्यापार है ही अर्थ के साक्षात्कार का व्यापार है। इस व्यापार में अर्थ, या कहिये, सत्य – का साक्षात्कार और उसका उन्मिषित–उन्मीलित होना, ये दोनों एक ही प्रक्रिया के अविनाभूत, अन्योन्य–संश्लिष्ट पक्ष के रूप में उभरते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ के सृजन–गर्भ साक्षात्कार का व्यापार 'ज्ञान' तक सीमित नहीं। भावन और कर्म भी इसके अंग होते हैं। घट को ही फिर से लीजिये। घट का अर्थ उसके ज्ञान–विषय होने तक सीमित नहीं रहता। घटार्थ के स्पष्ट ही दूसरे आयाम होते हैं जो अर्थ की अभिधा को सहज ही व्यंजना की ओर मोड़ देते हैं, भावन के क्षेत्र में ले जाते हैं : 'घट घट में है राम समाना, कटुक वचन मत बोल रे'। इस विख्यात और गभीर उक्ति में अर्थ का भाव और कर्म दोनों ओर प्रकट इंगित है। यहां हम सहज ही विचार–चेतना को– या कहिये बुद्धि को – व्यापक अर्थ में ले सकते हैं, उसे आत्मचेतन प्रवृत्ति मात्र पर प्रसृत देख सकते हैं। हम भाव और कर्म के भी सत्य की बात कर सकते हैं। विचार–चेतना का इन्द्रियार्थ की बाह्यता से मुक्त अपना अंतः स्वातंत्र्य भी यहां प्रकटतर देखा जा सकता है। फिर यह भी है कि यहां, ऐसे उदाहरणों में, अर्थ के साक्षात्कार और उसके सृजन का युगनद्ध होना भी अधिक स्फुट उभर कर आगे आता है : व्यंजना–व्यापार में अर्थ का सृजन उसके साक्षात्कार का अनुषंगी होता ही है। सृजन और साक्षात्कार के अन्योन्य–भाव को यहां भावित, अनुभूत किया जा सकता है। आपत्ति हो सकती है कि यह सारा नितांत स्पष्ट भाव से व्यापार विषयिनिष्ठ है, विषयि तंत्र है, विषयतंत्रता से कोसों दूर है, यहां सत्य की बात करना उचित नहीं; सत्य विषयनिष्ठ होता है। पर ऐसा कहते हुए हम विषय को इन्द्रियार्थ में अपचित कर लेना चाहते हैं। लेकिन भाव और कर्म के अपने विषय होते हैं। इनके सत्य की जिज्ञासा हममें बाह्य–विषयों के सत्य से गहरी और तीखी भी होती। और फिर स्पष्ट ही जिस विचार–चेतना की हम बात कर रहे हैं वह किसी विषयी की स्वगत, स्वसीमित चेतना नहीं, सामान्य–चेतना होती है। नहीं तो अर्थ–चेतना ही नहीं होगी। अर्थ–चेतना का व्यापार, किसी भी क्षेत्र में हो, प्रमाण–बोध को साथ रखता है। इसमें भ्रम की संभावना बनी रहती है। यों बात यहां किसी विषयी–विशेष–सीमित विषयिनिष्ठता की कदापि नहीं है, जैसा कि किसी अविचारित–से प्रतिपक्ष की दृष्टि से सोचा जा सकता है। बात यहां उसी सामान्य–चेतना की है जो ज्ञान में होती है।

हां, ज्ञान में हम विषय निष्ठता की बात का सहज स्वीकार कर लेते है, नहीं तो उसे 'ज्ञान' की संज्ञा ही नहीं देंगे। पर विषय निष्ठता वहां भी होती विषयी की ही है। कहना न होगा कि ज्ञान होता तो विषयी को ही है, विषय को नहीं। विषयनिष्ठता, स्पष्ट ही, विषयिता का ही धर्म है – पर, हां,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह विषयिता जिस चेतना में घर करती है उसमें द्रष्टृत्व का ताटस्थ्य आवश्यक होता है, सामान्यता आवश्यक होती है, वह 'मेरी' या 'आपकी' नहीं होती। तभी हम उसका संबंध सत्य से जोड़ते हैं। यहां विज्ञान को ही लें, जिस ज्ञान को आज विषयनिष्ठता में मूर्धन्य ज्ञान माना जाता है; बल्कि, विषयनिष्ठता का प्रतिमान ही माना जाता है आज उसे। अब, विज्ञान के 'ज्ञान' को थोड़ा भीतर उतरकर देखें। हमारी बात आगे उभरकर आती दिखेगी। प्रतिपक्ष के आशय का यहां सहज ही अनुमान किया जा सकता है : 'इन्द्रिय–लब्ध ज्ञान ही विषय–निष्ठ होता है और विज्ञान ऐसी विषयनिष्ठता का परम दृष्टांत है क्योंकि विज्ञान में ज्ञान का आधार ही नहीं, प्रमाण की परीक्षक भी (प्रयोगशाला में) इन्द्रियां ही होती हैं। अब, यह तो कहना ही न होगा कि विज्ञान जिस जगत् को – भौतिक–जगत् को – जानना चाहता है उसे मानता ही इन्द्रिय–लब्ध है। पर उसकी जिज्ञासा इन्द्रिय–लब्ध जगत् के स्वरूप की होती है। संबंधों में बुना गया यह स्वरूप, इन्द्रिय–लब्ध नहीं होता, हो ही नहीं सकता है। विज्ञान का जिज्ञास्य, 'भौतिक क्या है', यह संधान भौतिक के स्वरूप का संधान होता हुआ उस स्वरूप के अर्थ का ही संधान हो सकता है। पर भौतिकार्थ इन्द्रिय–गम्य नहीं, प्रत्यय–गम्य होता है। अचंभा नहीं कि हम पाते ही हैं कि विज्ञान का 'ज्ञान' विचार–चेतना के भीतर ही जागता है, और उस चेतना की अपनी बुनावट का अंग बन कर सिद्धांतों में रूप लेता है। अपनी अर्थ जिज्ञासा में यह जितना गहराता है, फैलता है, उतना ही इन्द्रिय से दूर होता जाता है। यह स्वभाविक भी है, क्योंकि विषय का ज्ञान – किसी भी वस्तु का विषय–रूपेण ज्ञान ही कह लीजिये – चाहे वह इन्द्रिय गम्य हो या न हो, वह एक ज्ञान–तंत्र के अंतर्गत ही अर्थमय होता है, उसी संदर्भ में 'ज्ञान' का रूप लेता है। विज्ञान में तो यह बात बहुत ही उभरकर आगे आती दिखती है। विज्ञान के ज्ञान में विषय का इन्द्रिय–विषयत्व आद्य आधार हो, पर जितना विषय के स्वरूप–ग्रहण में वह ज्ञान अग्रसर होता है, उतना ही इन्द्रिय को पीछे छोड़ता हुआ विचार के अपने लोक में समाता चला जाता है। यहां तक कह सकते हैं कि विज्ञान के भूत–जगत् का इन्द्रिय–विषयत्व तो सिद्धांत–चेतना के भीतर एक ऊह्य सी– पर साथ ही अपेक्षया गौण सी – मांग रह जाती है (और अब तो प्रयोग द्वारा परीक्षा की बात भी गौण से गौणतर हो गई है)। यों भी, साधारण प्रत्यक्ष में भी (जैसा हम कह ही चुके हैं) इन्द्रिय की लब्धि अध्यवसाय की अपेक्षी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होती है। हम इन्द्रिय से संकेत ग्रहण कर, 'इन्द्रिय–प्रत्यक्ष क्या है' का अध्यवसाय करते हैं। यों यह आद्य 'ज्ञान' भी इन्द्रिय के अर्थ का ही ज्ञान होता है। और जब इन्द्रिय–विषय का अर्थ साधारण व्यवहार के अध्यवसाय मात्र से ऊपर उठ कर एक पूरे विचार–तंत्र के अंतर्गत आ समाये, तो स्पष्ट ही 'इन्द्रिय क्या संकेत दे रही है', यह निर्णय भी अधिकाधिक इन्द्रियेण अप्रत्यक्ष विचार–निर्भर होता चला जाता है।

यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान यहां किसी त्याज्य अर्थ में 'विषयि–निष्ठ' और यों ज्ञान की कोटि के बाहर नहीं हो जाता। हम जिस 'ज्ञान' को विषयि–निष्ठ कहकर उसका प्रत्याख्यान करते हैं, वहां विषयी स्व–सीमित होता है। पर यहां ऐसा बिलकुल नहीं है। विषयी यहां किसी स्व द्वारा परिभाषित नहीं होता, वह व्यक्ति–निष्ठता के वलय से उठा हुआ, विश्वजनीन होता है। बल्कि जितना स्व के संकोच से मुक्त हो पाता है उतना ही अर्थ–ग्रहण में समर्थ हो पाता है। पर अर्थ को अब विषयी की परमता की– या कहिये चित् की – उत्सृष्टि के रूप में भी अनायास देखा जा सकता है। अर्थ के साक्षात्कार को अर्थ–सृष्टि के पर्याय के रूप में उपलब्ध किया जा सकता है।

यह बात भाव और कर्म के बारे में भी कही जा सकती है। हमारी संवेदना, हमारा संकल्प, ये भी सामान्य–शायी होते हैं। इनका सत्य भी स्व से ऊपर उठकर ही बनता है। यहां अर्थ की सृष्टि और साक्षात्कार के सहकार को और स्पष्ट प्रतीत किया जा सकता है।

संकल्प को लीजिये। यह श्रेय–बोध की अपेक्षा रखता है और 'श्रेय क्या' यह प्रश्न हमारे लिये गहरे से गहरा प्रश्न होता है। बड़ा 'आत्मनिष्ठ' भी होता है। आत्मनिष्ठ इस अर्थ में कि श्रेय स्व की या स्वार्थ की बात नहीं होती; ऐसा ही होता तो धर्म–संकट का बोध ही बेमानी होता। श्रेय का सत्य जिस आत्मचेतना का जिज्ञास्य होता है, वह उतनी ही विषय–निष्ठ – या कहिये वस्तु–निष्ठ होती है, जितनी कि ज्ञान–चेतना। उतनी ही, बल्कि उससे अधिक व्याकुल–भाव से, प्रमाण–कामी भी होती है। प्रमाण यहां आत्म होता है। वही आत्म जो ज्ञान में प्रवृत्त होता है, उसीमें श्रेय बोध जागता है और श्रेय–प्रेरित हो वही अपने सत्य की तलाश करता है। स्पष्ट ही वह आत्म 'मेरा' नहीं सामान्य होता है। हां, यह जरूर कहा जा सकता है कि बाह्य–विषय के ज्ञान में, जिसे हम सहज ही ज्ञान का प्रतिमान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानते हैं, वहां इन्द्रिय जैसा एक ऐसा आधार होता है जो स्वभावेन सामान्य होता है, जहां विषयी का स्व, उसका व्यक्ति–निष्ठ संकीर्ण विषयित्व, सहज ही सर्वजनीन होता है; तभी यह ज्ञान व्यवहार का आश्रय बनता है। श्रेय–बोध में ऐसा नहीं होता। वहां तो 'व्यवहार क्या हो' यह भी प्रश्न ही बना रहता है – निरंतर जागता प्रश्न। श्रेय और ज्ञान के बीच का यह अंतर हम पर प्रकट ही रहता है : हम श्रेय–बोध की सामान्यता का अनुभव करते हुए भी यह जानते रहते हैं कि श्रेय का इन्द्रिय जैसा कोई सहज–सिद्ध सा सामान्य आधार नहीं। सुव्यक्त ही है कि इन्द्रिय के 'क्या है' के ज्ञान में, 'क्या होना चाहिये' का कोई इंगित नहीं होता।

पर यह भी व्यक्त ही है कि आत्मचेतन विषयी (मनुष्य) के श्रेयबोध की सार्वजनीनता ही उसके विशिष्ट मनुष्य–सुलभ व्यवहार को आधार देती है। हममें श्रेयबोध के साथ विवेक जागता है, परार्थ भाव जागता है, जो हमारे जीवन को ही पशु के जीवन से सर्वथा अलग कर देता है, पर जिसके बिना हमारी रहनी अकल्पनीय है। श्रेयबोध ही मनुष्य के समाज को संभव करता है। कहना न होगा कि समाज अन्य में – पर में – आत्म–बोध की उपलब्धि का सापेक्ष होता है। पर में आत्म बोध हमारी भाषा–चेतना में, जिस चेतना के साथ ही हम मनुष्य होते हैं, वहीं स्वरूपेण निहित रहता है। भाषा इस बोध की सदा साक्षी है। शल्य जी भाषा के इस साक्ष्य को उभारते हुए यह तथ्य सामने लाते हैं कि अस्मिता के लिये प्रयुक्त 'मैं' शब्द ही एक सामान्य प्रत्यय है : मैं अन्य या पर को भी 'मैं' के रूप पाता हूं। वह मेरे लिये विषय ही नहीं विषयी होता है, उसे मैं बाह्य–वस्तु के रूप में नहीं, आत्मसम आंतर वस्तु के रूप में पाता हूं, सहज ही पाता हूं। उसमें अपना ही जैसा अंतः ही नहीं पाता, उसके अंतः में मैं उतर भी सकता हूं : तभी उसका अभिनय कर सकता हूं। उसके मैं से तादात्म्य होता हुआ उसकी कहानी सकता हूं : उसकी कहानी को 'राम कहानी' – 'आत्मकथा' का रूप दे सकता हूं।

श्रेय–बोध की सामान्यता में 'पर' – या कहिये 'अन्य' – हमारे लिये आत्मसम ही नहीं, आत्मवत् होता है। तभी परार्थ–भाव रूप लेता है। और हमारे कर्म में उचित–अनुचित की कोटि आ बसती है। धर्म–बोध जाग उठता है। हमारी प्रवृत्ति संकल्प–प्राण हो जाती है, उसमें विवेक घर कर लेता है। संकल्प ही हमें व्यक्ति बनाता है, पर वह आत्मचेतना की सामान्यता और स्वातंत्र्य की अपेक्षा रखता है। हम समाज के भीतर ही व्यक्ति होते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर होते व्यक्ति हैं : अपने में अपना स्वातंत्र्य पालते हैं। हमारा स्वतंत्र व्यक्तित्व रूप ही ऐसे स्वतंत्र संकल्प के साथ लेता है जो समाज–निमज्जित नहीं होता। पर 'मेरे' संकल्प का स्वातंत्र्य उभरता उस चेतना में है जो मेरे अहं से उठकर रूप लेती है, जहां मैं अपने अहं का द्रष्टा, शास्ता हो पाने की क्षमता पालता हूं। आत्मचेतना की ज्ञान और संकल्प, इन दो वृत्तियों में यहां हम एक समान्तर–भाव देख सकते हैं। आत्मचेतना के साथ जहां हममें ज्ञान की स्वतंत्र जिज्ञासा जागती है जो कि प्रामाण्य को और अपनी तरह के विवेक को आधार बनाती है, वहीं हममें और भी गहराई से, एक दूसरा, संकल्प का विवेक जाग उठता है। बड़े अपूर्व–भाव से जागता है हममें श्रेय–प्राण, श्रेय–काम संकल्प–बोध। हममें जागता हुआ यह अभूतपूर्व बोध प्राणि–जीवन में ही, चेतना में ही, एक नई क्रांति का लक्षण प्रकट करता है। उचित–अनुचित की कोटियां उभरती हैं, और पशु की करनी में जो प्रकृति–तंत्र क्रिया मात्र थी, वह 'कर्म' का रूप ले लेती है। उसमें स्वातंत्र्य आ समाता है। कारण यह है कि पशु के अनात्मचेतन अहं में श्रेय जैसा कोई बोध ही नहीं होता। इस बोध का आविर्भाव अहं–चेतन आत्मचेतना का अपेक्षी होता है। यह अहं में अस्मिताबोध के साथ रूप लेता है और अहं को पर और अवर – या कहिये, प्रत्यक् और अर्वाक् – के द्वित्व में पिरोता हुआ, मनुष्य को अपने अहं के सीमित वलय से निकल पाने में समर्थ बनाता है। तभी उसमें ज्ञान, भाव, कर्म की स्वतंत्र, प्रमाण–तंत्र वृत्तियां जाग पाती हैं। ये उस सामान्यता के साथ हैं जागती हैं, जहां अन्य आत्म–स्थानीय हो जाता है (तभी बाह्य ज्ञान में भी अन्य प्रमाण होता है : मुझे कुछ प्रत्यक्ष हो पर अन्य को न हो तो मेरा प्रत्यक्ष मेरे लिये ही संदिग्ध बन जाता है)। यह अन्य–सामान्यता श्रेय–बोध में निविड़तम, आत्मीयतम होती है और इसके साथ ही हममें 'उचित क्या, धर्म क्या', यह प्रश्न – दूसरे शब्दों में ' क्या होना चाहिये' का प्रश्न – चुभता हुआ सर उठाता है। यहां यह भी लक्ष्य है कि आत्मचेतन बुद्धि में 'क्या है' का प्रश्न भी यथातथा सत्य की जिज्ञासा के रूप में आत्म–परीक्ष्य प्रमाण–बोध की अपेक्षा के साथ ही जागता है। पर प्रमाण–बुद्धि को – इस बुद्धि में निष्ठ अनुमान–बोध को – पशु में भी देखा ही जा सकता है। लेकिन पशु में जिसका अभाव ही सामने आता है वह है धर्म–बोध। तभी मनु ने (अरस्तू की तरह) युक्ति बुद्धि को नहीं, धर्म को ही मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण कहा है – धर्मो हि तेषां (मनुष्याणां) अधिको

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेषः। शल्य जी मनु की इस उक्ति का बहुधा उल्लेख करते हैं। व्यवस्था और योजना–बुद्धि तो हम चींटियों, मधुमक्खियों जैसे पशु समाजों में बड़ी प्रखरता के साथ पाते हैं, पर ये काम और अर्थ को ही लक्ष्य रखते हैं। कह सकते हैं कि जिजीविषा ही – प्राणि मात्र की जिजीविषा ही, स्वरूपेण काम और अर्थ सापेक्ष होती है। पर मनुष्य जीवन ऐसी जिजीविषा से ऊपर उठकर ही बनता है। मनुष्य धर्म के बिना अकल्पनीय है। मनुष्य का समाज धर्म से ही मनुष्य–समाज बनता है। धर्म मनुष्य की जिजीविषा को ही नई दिशा देता उभरता है। कह सकते हैं कि धर्म इस उदात्ततर जिजीविषा का लक्षण है, या, कहिये कि वह मनुष्य की नितांत अहं–सीमित प्रवृत्ति के श्रेयार्थोन्मुख हो जाने का प्रतीक है। श्रेयबोध मनुष्य चेतना पर ऐसा व्यापक होता है कि मनुष्य–समाज को ही आधार नहीं देता, हमारी सारी प्रवृत्तियों को अपने वलय में समेट लेता है। ज्ञान के लिये, भाव के लिये, हम पूछ सकते हैं, पूछते ही हैं कि क्या ज्ञान की, या भाव की, यह दिशा उचित है, धर्म्य है, क्या इसमें हमारा श्रेय है ? कहना न होगा कि यहां यह संकेत भी स्फुट उभरता है कि श्रेय क्या, यह वस्तु–निष्ठ प्रश्न है – हां, यह वस्तु बाह्य–वस्तु नहीं है; पर विषयीगत आवेग–संवेग मात्र भी नहीं है, भावगत नहीं है, क्योंकि किसी भी भाव के बारे में हम पूछ सकते हैं कि क्या है, उचित है, श्रेय है। शल्य जी कहते नहीं थकते कि हमारी सामान्य–चेतना में अनथक जागता यह प्रश्न कि 'श्रेय क्या', यह तात्त्विक प्रश्न है। श्रेय वस्तु है, कितनी ही दुरवगाह क्यों न हो। श्रेय को विषयी के स्व में अपचित कर देने का या संस्कृति–समाज–सापेक्ष कह देने का मार्ग उसके वस्तुसत्य से इनकार का मार्ग है – भूलना न चाहिये कि समाज क्या रूप ले, संस्कृति किधर प्रवृत्त हो, ये भी श्रेय के प्रश्न हैं। शल्य जी श्रेय के प्रश्न की गहरी चर्चा करते हैं।

श्रेय क्या, इसका उत्तर हमें आत्म की ओर ही ले जाता है, और आत्म क्या, यह हमारे लिये निगूढ़तम प्रश्न है। पर यह आत्म की साध्यता का भी इंगित है। श्रेयबोध के साथ हम पाते हैं कि हमारा उपलब्ध आत्म वस्तु आत्म नहीं है। वह आत्म प्राप्त नहीं प्राप्य है। नितांत हमारा, 'अपने से अपना' होते हुए भी नितांत 'पर' है। पराया ही नहीं, अनजान, बेगाना है। निकटतम होते हुए भी सुदूरतम है। पर श्रेय का वही उत्स भी है। श्रेय को ठिकाना कहीं बाहर नहीं मिलता (धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्), पर परेशानी यह होती है कि यह उसे 'भीतर' भी नहीं मिलता, जिस 'भीतर' को हम अपने अंतः के रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में जानते हैं! हमारे परिचित विषयित्व से, जिसे हम अपना प्रस्तुत–प्रदत्त आत्म पाते हैं, उससे वह परे ही खड़ा प्रतीत होता रहता है। पर श्रेय का प्रश्न सहज ही आत्म क्या, इस निगूढ़ पर कचोटते हुए प्रश्न की लौ हमारे समूचे आपे में जगा देता है; आत्म के अपने तत्त्व की जिज्ञासा की ओर बरबस खींच ले जाता है।

आत्म क्या, यह प्रश्न हमारा प्रस्तुत आत्म, व्यवहार–लब्ध आत्म ही करता है। पर अपनी गहराई में, अपने अनुभूत मर्म में, प्रश्न उठता इसलिये कि वह अपने को अनात्म पाता है। अपने प्रस्तुत आत्म के बारे में यह बोध हममें बार बार उभरता है कि 'यह मैं नहीं हूं'। हमारी श्रेयवृत्ति को साक्षी रखते हुए उभरता है यह प्रश्न, तभी अपने को श्रेय–च्युत पाने की अवस्था में प्रश्न की अनी तीक्ष्णतम होती है, और हम अपने को बड़े निबिड़ भाव से अनात्म पाते हैं। बड़े तीखे आत्मद्वैध के साथ ऐसा पाते हैं कि हम जिस आत्म में हैं वह हमारा वस्तु–आत्म नहीं है, हमारा स्वरूप, हमारा सत्य नहीं है। अचंभा नहीं कि 'आत्मानं विद्धि', यह जिज्ञासा हमारी गहरी से गहरी जिज्ञासा होती है। हम क्या हैं? यह जिज्ञासा एक अद्भुत वैषम्य जगाती हुई हमारे अपनेपन को ही अपने से परे किसी अगाध अज्ञात की ओर ले जाती है, क्योंकि अपने होने को, अपनी प्रस्तुत अस्मिता के सत्य को हम नितांत साध्य पाते हैं। आत्म क्या, यह प्रश्न हमारे लिये ऐसा प्रश्न होता है जो हमारे समूचे होने पर व्याप्त होता है; हमारे लिये घनिष्ठतम, आत्मीयतम प्रश्न होता है यह। दर्शन के मर्म में भी यह प्रश्न जागता देखा जा सकता है। सुकरात की विचार–प्रेरणा का यह उत्स था ही। शल्य जी के दर्शन के मर्म में भी बड़े आत्मचेतन भाव से जागता है यह प्रश्न।

यह प्रश्न हम करते ही इसलिये हैं कि हम आत्मचेतन हैं। मनुष्य में प्रत्यय–चेतना ही आत्मचेतना चेतना के साथ जागती है। पशु में नहीं जागता यह प्रश्न। क्योंकि पशुओं में आत्मचेतना हो भी तो अत्यंत क्षीण है। नहीं जैसी है। प्रत्यय–चेतना का अभाव इसका प्रकट इंगित है। शल्यजी का दर्शन आत्मचेतना को केन्द्र में रखता है – और यों मनुष्य को, उसके आत्मसृष्ट जगत् को, उसके आत्मसंधान को केन्द्र में रखता है।

हमारी आत्मचेतना एक गहरे आत्म–द्वैत के साथ आत्मचेतन होती है। हममें अस्मिता के साथ ही आत्मबोध रूप लेता उभरता है : हम अपने को कर्ता और ज्ञाता के रूप में पाते हैं। हम अपनी अस्मिता को संकल्प के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वातंत्र्यबोध के साथ पाते हैं। पर यह भी पाते हैं कि हमारी अस्मिता अहं के द्वैत में प्रतिष्ठित है। यही हमारी अस्मिता का आधार है। अहं का द्वैत, या कहिये हमारे आत्म के भीतर उभरता अहं का दोहरापन, हमारी आत्मचेतना का प्रकट लक्षण है। आत्मचेतन हो पाने के लिये यह अनिवार्य भी है (अहं/अहं यह आत्मगत द्वित्व न हो तो आत्मचेतन कैसे होंगे हम?)। इस आत्मगत द्वित्व का स्वरूप यह है कि हमारा विषयी अपने को विषय बना सकता है। पर यह कोई इकहरा व्यापार नहीं, एक अनंत प्रत्यङ्मुख व्यापार है : या कहिये वृत्ति है। इस अथाह आनंत्य के बिना यह हो भी नहीं सकता – एक चरण में, एक ही कक्षा में सीमित, एक परत का व्यापार हो तो जिसे हम आत्मचेतना कहते हैं, जहां अपने वस्तु आत्म को अपने से परे ही पाते रहते हैं, यह होता ही नहीं। पर आत्मचेतना उभरती ही इस असीम, अथाह प्रत्यङ्मुखता के भीतर है। अंत हीन होती है हमारी प्रत्यङ्मुखता। अपने परे ही जाती रहती है। हमारा विषयिभाव स्वभावेन प्रत्यङ्मुख होकर ही अपने को देखने की ओर उन्मुख होता है। एक निस्सीम–सा सोपान चढ़ती चली जा सकती है प्रत्यङ्मुखता : अपने को अपना विषय बनाती हुई, अपने ही ऊपर उठने में समर्थ होती है। इस प्रत्यङ्मुखता के साथ, जिसमें हम अपने को अपने से परे पाते हैं, इसके साथ ही हममें श्रेयबोध आविर्भूत होता है। हमारा आत्म अपने स्वरूपगत आत्म संश्लिष्ट द्वित्व में अपने को अवर और पर आत्म के रूप में पाता है। हम अपने को अपना द्रष्टा पाते हैं तो साथ में ही अपना शास्ता–नियंता भी पाते हैं। अपने स्रष्टा हो पाते हैं।

विषयित्व की निरंत प्रत्यङ्मुखता का, स्पष्ट ही, आत्म के परम परत्व की ओर भी इंगित है। यह बात नई नहीं; दर्शन में चर्चा का विषय रही ही है। इसका अर्थ क्या, तत्त्व क्या, इसको लेकर विमर्श, विप्रतिपत्तियां भी रही ही हैं। शल्य जी यहां एक बड़ी सूझ की, गहरी पते की बात उभारते हैं, जो नई है। जिस पर हम आगे आयेंगे।

पर यहां शल्य जी की एक और गहरी सूझ की चर्चा करना चाहता हूं। आत्मचेतना का द्वित्व विषयि–विषय का ही द्वैत नहीं होता, विषयि–विषयी का भी द्वैत होता है। यह बात भावन के क्षेत्र में देखी जा सकती है। कला की निर्मिति में, साधना में, बड़ी स्पष्ट उभर कर आती है। कला विषयित्व में रहते हुए विषयी–स्वरूप के अर्थ का अवगाहन करती है, उसकी अभिव्यक्ति साधती है। कला की निर्मितियों को ऐसे प्रत्ययों के रूप में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देखना चाहिये जो विषयिभाव के स्वरूप को, उसकी संभावनाओं को – या कहिये उसके अर्थ को, सत्य को – सामान्य रूप देते हैं। प्रत्ययों को हम आम तौर पर भाषागत ही समझते हैं। संगीत, चित्र और वास्तु जैसी कलाओं में शब्दमयी भाषा माध्यम नहीं होती। वहां प्रत्यय की बात असमंजस–सी लग सकती है। पर कला का प्रेषकत्व, उसका सामान्य कल्पनागर्भ होना स्फुट है। तो, यहां युक्त निष्कर्ष यही उपपन्न होता है कि भाषा शब्दगत ही नहीं होती, उसके और भी माध्यम हैं : संगीत में स्वर; चित्र में वर्ण, रेखा; वास्तु और भास्कर्य में सघन द्रव्य – ये शब्दों की तरह ही प्रतीक–व्यवस्था बनाते हैं, उसमें बसे होते हैं। इन्हें 'भाषा' के रूप में ही देखना उचित है। इनके 'व्याकरण' की भी बात की जा सकती है, की ही जाती है। ये शब्दभिन्न कलाएँ, (संगीत में) काल का और (वास्तु, भास्कर्य में) देश का विन्यास करते हुए जो रूप साधती हैं, वे हमारी सामान्य अर्थग्राही प्रत्यङ्मुख चेतना को उद्दिष्ट होते हैं। यों ,इनकी निर्मितियों को सामान्य प्रत्ययों के रूप में ही समझना चाहिये। पर प्रत्यय का उद्देश्य और अर्थ यहां – चाहे वह काव्य की तरह भाषा में ही क्यों न हो – अभिधा का नहीं, व्यंजना का सहारा लेता है। यहां विषयी विषयित्व में रहते हुए ही अपने विषयिभाव के अर्थ का ग्रहण करता है, विषयित्व के सत्य का साक्षात् करता है। या यों कहिये कि कला में हम अपने अनुभव के भोक्ता रहते हुए ही उसके द्रष्टा हो पाने में समर्थ होते हैं। विषयित्व के स्वरूप को, अर्थ को, विषय–रूप में भी हम देखते–आँकते–परखते ही हैं (जैसा कि मनोविज्ञान आदि में होता है)। वहां अर्थ अभिहित होता है। लेकिन कला में विषयित्व के अर्थ की प्रस्तुति विषय–रूप में नहीं होती। इसलिये वहां अध्यवसाय का (कुछ अपने आप में है, ऐसे ज्ञान का) भी अभाव होता है। वहां विषयित्व का सत्य, उसका स्वभाव, ही विषयित्व पर खुलता है। विषयभाव का अभाव वहां अर्थ–प्रस्तुति के प्रकार को नया रूप देता है – अभिधा नहीं, व्यंजना साधता है, जहां भाव भाव–चित्त पर ही प्रकट होता है, बुद्धि पर नहीं। तभी हम यहां अर्थ के ग्रहण को 'संवेदना' का अलग नाम भी देते हैं। यहां विषयित्व के भीतर ही हम एक विषय–विषयि–भाव से भिन्न आत्मचेतन द्वैत उभरता पाते हैं, प्रत्यङ्मुख हो कर विषयित्व में रहते हुए ही विषयित्व का स्वतंत्र अवगाहन करने में सक्षम हो पाते हैं, विषयित्व के स्वरूप को ही नहीं, उसकी संभावनाओं को, कल्पनाओं को प्रत्यय–चेतन रूप दे पाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कला को यों देखना उसके तत्त्व की बड़ी गहरी पकड़ है। हमारे यहां काव्य (साहित्य) के संदर्भ में व्यंजना की बात की गई है। रस को व्यंजित कहा गया है, अभिहित नहीं। यह भी कहा गया है कि व्यंजित अर्थ ही होता है। सामान्य होता है। उसे साधारणीकृत कहा ही गया है। पर शल्य जी कहते हैं कि साधारणीकृत कह देने मात्र से यहां बात नहीं बनती, क्योंकि साधारणीकृत तो अर्थ मात्र होता है। व्यंजित ही नहीं अभिहित अर्थ भी साधारणीकृत ही होता है। पर कला का साधारणीकरण उसका अपना होता है, जिसे विषयित्व के भीतर ही विषयि–विषयी के आत्मचेतन, आत्मावगाही, आत्मार्थसंधानी द्वंद्व के रूप में समझना अधिक सार्थक है।

पर कला के संदर्भ में यह भी ध्येय है कि यहां हम सहज ही, और मानो अनुभव के भीतर से ही, देख पाते पाते हैं कि अर्थ का साक्षात्कार और अर्थ का सृजन, ये एक ही तत्त्व के दो युगनद्ध, अयुतसिद्ध पक्ष हैं।

ऊपर की चर्चा में यह भी ध्वनित है कि आत्मचेतना का प्रत्यङ्मुख व्यापार चेतना के प्रसार का व्यापार है। चेतना का यह प्रत्यङ्मुख व्यापार आत्मचेतना में ही संभव है। हम आत्मचेतना का अनुभव स्वसंवेद के रूप में करते हैं, और इस अनुभव के आधार पर आत्मचेतना को अपनी स्व–चेतना का धर्म मानते हैं। यह भी मान लेते हैं कि यह अन्य में भी होती है (अन्य मनुष्य में तो होती ही है), पर उसे मनुष्यमात्र में मानते हुए भी हम उसे व्यक्तिगत धर्म मानने की ओर ही प्रवण रहते हैं : 'वह सबमें होती है, पर हरेक की अपनी होती है'। व्यक्ति (या कहिये, मनुष्य–व्यक्ति) न हो तो उसके होने की कल्पना नहीं की जा सकती; वह अपने आप में कुछ नहीं होती। इसके पीछे यह भी भाव रहता है कि मनुष्य में वह जीव–विकास की उपज है, और इस विकास को प्राकृतिक कारणों का फल कहा जा सकता है, या इसे यादृच्छिक कहा जा सकता है (सच पूछिये तो यादृच्छिकता का सिद्धांत विज्ञान में ऊह्य–सा उभरता है, क्योंकि विज्ञान 'प्रयोजन' या 'लक्ष्य' के प्रत्यय को अपने विचार–तंत्र से बहिष्कृत ही रखता है)। पर, ऊपर की चर्चा से स्फुट है कि आत्मचेतना चेतना का अपना धर्म है, यह चेतना परम सामान्य होती है, व्यक्ति में इसका आविर्भाव होता है, या अवतरण कहिये, लेकिन इसे व्यक्तिनिष्ठ धर्म के रूप में देखना भ्रांति है। हां, यह पशुओं में अनुपलब्ध है। इसके मनुष्य में आ उतरने में विकास–व्यापार का इंगित है। पर इस विकास को जड़ का नहीं चेतना का – या कहिये चित् का – व्यापार ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझना चाहिये (शल्य जी इसे कैसे देखते हैं, इस पर हम अभी आयेंगे)। अन्यथा यह निष्प्रयोजन ही नहीं, निरर्थक ठहरता है। फिर, अगर यह जड़ का व्यापार है तो किसी भी कुछ को किसी भी तरह 'समझने' का ही कोई अर्थ नहीं बनता : क्योंकि चेतना के स्वातंत्र्य के बिना प्रमाण–व्यापार ही संभव नहीं। ज्ञान ही नहीं, भावन और कर्म, ये सभी फिर बेमानी हैं, इनमें जो अर्थ–संधान का संसार रूप लेता है वह फिर यादृच्छिक है, मिथ्या है, भ्रांति है, किसी अर्थ में हो भी तो निरर्थक है।

आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता को एक बड़े सीधे–सपाट अपने ही पीछे हटती जाती रेखा के रूप में भी देखा–समझा गया है। जैसे बात इतनी सी ही हो कि द्रष्टा अपनी ओर देखते हुए एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी चढ़ते चला जाता है। बात कुछ वैसी ही सी है जैसी हम तब पाते हैं जब हम दो आमने–सामने रखे दर्पणों के बीच खड़े हों और हमारा बिंब एक–के–पीछे–दूसरा उभरता चला जाता हो, और इस क्रम का कहीं अंत न दिखता हो। पर बात इतनी सी नहीं है। बात चेतना के विस्तार की है। पर हम अपनी ही आत्मचेतना के भीतर थोड़ा भी झाँक कर देखें तो पाते हैं कि चेतना जितनी प्रत्यङ्मुख होती है, स्व के अहंभाव से मुक्त होकर सामान्यता को विस्तार देती भूमा की ओर बढ़ती जाती है। उसमें अपना और अपने फैलते विषयलोक का साक्षात् गहराता जाता है। वह अपने दृश्य के अर्थ में, उसकी संभावनाओं में, साध्यता में और पैठ बना पाती है। इस व्यापार का संकेत हम बाह्य विषयबोध के स्तर पर ही अनायास पाते हैं। विषय को हम सामान्यता की सीढ़ी चढ़ता पाते ही हैं। वह एक आरोह के साथ संकुचित सामान्य से प्रसृततर सामान्य में खुलता चला जाता है – प्याला–त्व बरतन–त्व में, बरतनत्व निर्मित – वस्तु–त्व में, निर्मितत्व वस्तुत्व मात्र में.... और अंततः यह आरोह–व्यापार सत्ता के अव्याकृत असीम की ओर ले जाता है, जहां से हम विशेष सामान्यों को उभरता देख सकते हैं, इस अवरोह की संभावनामयता, और यों इसके समझने–आंकने–परखने की साध्यता को भी भाँप सकते हैं, क्योंकि इस व्यापार में यह उभरता रहता है कि व्याकृति भिन्न मार्ग ले सकती है, लेती ही है। कौन सा मार्ग 'सत्य' के साक्षात्कार के लिये सार्थकतर है, यह भी साध्य रहता है।

प्रत्यङ्मुखता के व्यापार में यह भी साक्षात् किया जा सकता है कि यह विषयी–उन्मुख ही नहीं, मानो विषयी का ही व्यापार होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयी–परक होता उभरता है यह। इसमें विषय को विषयी के कुक्षिगत ही नहीं देखा जा सकता, उसे विषयी से उत्कीर्ण होता भाँपा जा सकता है। यह बात प्रत्यङ्मुखता का स्वभाव ही प्रतीत होती है। पर इसे विचार की प्रत्यङ्मुखता में स्फुटतम देखा जा सकता है। विचार जितना अपने को विषय बनाता अपनी ओर बढ़ता है, उतना ही विचार–विषय और विचार–विषयी का भेद क्षीण होता अनुभूत होता है। विचार्य (विषय) और विचार के बीच एक भेदाभेद उभर आता है, जहां एक दूसरे के बीच की दरार सिकुड़ती चली जाती अनुभूत होती है। विषय को अपने भीतर समोये विषयी अपने पीछे, अपने परे, जाता हुआ चेतना की उस परम सामान्यता की ओर बढ़ता लगता है जहां दोनों एक अद्वय चेतना के – चित् के – दो पक्षों की तरह उभरते जान पड़ते हैं। ज्ञान, भाव, कर्म, सब में हम विषय–विषयी के इस भेदाभेदमय 'अद्वय' का, विषयकी विषयी से उत्कीर्ण सी होती आत्मोद्भूति का अनुभव कर सकते हैं। इस व्यापार को आत्म या (चित्) के आत्मसृजन के रूप में देखने की दृष्टि इस व्यापार के भीतर से ही सहज व्यंजित होती है : यहां सत् को हम मानो चित् से उत्सृष्ट होता देख पाते हैं।

कहना न होगा कि सृष्टि एक परम गुह्य, अगाध रहस्यमय व्यापार है। विचार से – विचार की किसी अनुमानमयी उत्प्लुति से – उस तक पहुँचना संभव नहीं। पर विचार अपने से परे की ललक छोड़ता नहीं है। दृष्टियां रूप लेती हैं। बड़ी गहन, बड़ी अर्थमयी दृष्टियां रूप लेती हैं, (शल्य जी की दृष्टि का संकेत हम ऊपर की चर्चा में पा सकते हैं)। यह भी यहां अनुध्येय है कि शल्य जी का चिंतन सृजन को ही मूल में रखता है। फिर, ऊपर की चर्चा में यह भी उभरा है कि सृजन आत्मसृजन का स्वरूपतः अपेक्षी होता है।

हमारे प्रस्तुत, अनुभूत आत्म में शल्य जी परम चित् का प्रतीक पाते हैं और आत्म के प्रत्यङ्मुख सृर्जन–मर्म में चित् के स्वरूप की व्यंजना। चित् उनके लिये आत्मसृष्ट है और यह आत्मसर्जन सृष्टि का मूल है।

हम आत्मचेतना में चेतना को प्रत्यङ्मुख होता पाते हैं। यह भी पाते हैं कि आत्मचेतना अहं/अहं के द्वैध में रूप लेती है। इसी द्वैध के साथ हममें आत्मसृजन रूप लेता है। आत्मसृजन के लिये यह द्वैध आवश्यक भी है : अपने से अलग हो कर ही मैं अपने को बना सकता हूं। शल्य जी आत्मचेतना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में चित् के स्वरूप का प्रतीक देखते हुए उसके सृजन–व्यापार को समझने–आँकने में इस द्वैधभाव को आधारगत रखते हैं।

शल्य जी का चिंतन वेदांत–प्रभावित है, पर उनकी दृष्टि एक गहरी पैठ के साथ अपनी है, स्वतंत्र ही नहीं, नितांत अभिनव है, चले आते वेदांत के प्रसिद्ध दर्शनों से तत्त्वतः पृथक् है। वे चित्–सत् के वेदान्ती अद्वैत को मानते हैं, पर उनका यह अद्वैत एक सर्वथा नये, और साथ ही सर्वथा मूलगत द्वैतबोध में बसा है जिसका इंगित वे अनुभूत आत्मचेतना और उसके आत्मसंधान में पाते हैं। यों उनकी तत्त्व–दृष्टि वेदान्त–प्रभावित होते हुए भी नितांत उनकी अपनी है, नितांत आधुनिक है। सत् उनके लिये माया या मिथ्या या चिद्भिन्न नहीं है, पर चित् उनके लिये आत्मसृजन–व्यापार के भीतर ही सत् का उत्स बनता है, और इसी व्यापार में अनिवार्यतः आत्मभिन्न–आत्मविच्छिन्न – हो जाता है। यों वह स्वरूपेण भाव से भाव्य हो जाता है : अपने से अलग हो कर अपना ही साध्य, गवेष्य हो जाता है। सिद्ध वह कभी होता ही नहीं, साध्य – आत्मसाध्य– ही रहता है। सृजन के साथ ही उसका गवेष्य आत्मस्वरूप सृजन के साध्य निरवद्य प्रतिमान की तरह अवस्तु रूप हो जाता है। यों उसके आत्मस्वरूप के होने की बात ही नहीं की जा सकती। उसका स्वरूप, जो उसका निरवद्य होना है, साध्य ही रहता है। आत्मसाध्य।

बात विस्तार चाहती है।

शल्य जी के वेदान्त को उपनिषद्गर्भ कह सकते हैं। शल्य जी उपनिषद् के प्रातिभ अर्थगर्भ मार्मिक कथनों को अपनी तरह से समझते हुए और अपने विचार–तंत्र में समोते हुए, उन्हें अपनी सृजन–मीमांसा का आधार बनाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की एक उक्ति है : असत् वै इदम् अग्र आसीत। ततः वै सत् अजायत। तद् आत्मानं स्वयमकरुत। (तैत्तिरीय, ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तम अनुवाक)। शल्य जी का अनुवाद है : 'आरंभ में असत् ही था। उससे सत् की उत्पत्ति हुई। और उसने अपने को स्वयं रचा'।

उक्ति में पैनी अंतर्दृष्टि है। सृजन आत्मसृजन ही हो सकता है, तभी आत्मतंत्र हो सकता है, किसी भी पर से अछूता, नहीं तो सृजन नहीं होगा, कार्य–कारण–श्रृंखला–भुक्त होगा। यों सृजन असत् को, सर्वथा न–होने को, ऊह्य रखता है। और तभी सृजन की संभावनाएँ अनंत होती हैं : कुछ नहीं अगर कुछ होने को प्रवृत्त हो तो कुछ भी हो सकता है – कुछ भी होने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को स्वतंत्र, निर्बंध होता है। असत् के भीतर सत् की संभावनाओं को सीमित नहीं किया जा सकता : किस बिना पर सीमा उकेरेंगे हम! हमारी सृजनशील चेतना की ओर झांके तो सहज ही इस बात को ताड़ सकते हैं : हम अपनी सृजन–प्रवृत्ति में संभावना के निस्सीम की जीवंत, स्फूर्त झलक पाते ही हैं। और यह संभावनामयता सृज्य कृति के रूप लेने में भी बनी रहती है। कृति स्वरूपेण साध्य हो तो यह अनिवार्य है (कृति सचमुच सृज्य हो तो किसी सिद्ध–प्रदत्त प्रतिमान की अनुकृति नहीं हो सकती, ऐसी अनुकृति में कोई सृजन नहीं होता, तो संभावनामयता भी नहीं होती। पर प्रतिमान अरूप हो – अवस्तु हो – तो संभावना का आकाश खुला रहता है – हम ऐसा पाते ही हैं)। पर कृति रूप ले तो अनंत संभावनाओं में से एक को ही रूप दे सकती है, उसका रूप रूप–विशेष ही हो सकता है : एक विशेष अंतःसंगत आकृति के साथ एक विशेष विधान में ढला, एक विशेष ऋत में निष्ठ, जो सृजन के आद्यक्षण में ही उभर आता है; पर साध्य भी रहता है। सृजन के संभावनामय होने के कारण इस विशेष में भी 'हो सकने' का आनंत्य निगूढ़ रहता है। इसे सृजन में निहित गहरा विरोध – या विरोधाभास – भी कह सकते हैं। या असत् से सत् के होने का अनिर्वाच्य रहस्य कहिये।

पर यह भी देखिये। जैसा हम कह आये हैं, आत्मसृजन एक अगाध आत्मद्वैध को ऊह्य रखता है। हम अपने से हट कर, अपने से अलग होकर, और यों आत्मभिन्न हो कर ही – या शल्य जी के शब्दों में कहिये, अपने से व्यवहित होकर ही – अपना सृजन कर सकते हैं। इसे रहस्य ही कह लीजिये, पर यह है – तभी सृष्टि है। यों सृजन में जहां एक ओर चित् अपने को सृष्ट करता है, वहीं, उसी व्यापार में, अपने आप से अलग, विच्छिन्न ही नहीं हो जाता, विच्छिन्न रहने को बाध्य हो जाता है। नहीं तो सृष्टि का नैरंतर्य नहीं बना रह सकता। चित् अपने स्वरूप सर्जन चाहता है, पर उसका आत्मसर्जन–व्यापार उसे स्वरूपेण अपने लिये ही सदा साध्य, गवेषणीय बना देता है (हम पाते हैं कि हममें भी आत्मसृजन का बीज अस्मि/अस्मि के आत्मविच्छेद को ऊह्य रखता है, जहां साध्य आत्म 'पर' ही नहीं, परे ही बना रहता है)। अपने से व्यवहित, विच्छिन्न चित् अपने स्वरूप को साकार करने की ओर उन्मुख होता है, अपने ही साध्य स्वरूप को सिद्ध करने की साधना करता है। यही सृष्टि है। चित् का आत्म–व्यवधान व्यवधान बना रहता है। चित् जब अपना इतर हो जाता है तो इतर ही रहने को बाध्य भी हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह अपने अवस्तुभूत व्यवहित आत्म की प्रतिकृति ही साध सकता है, साधता चला जा सकता है, उसे पा नहीं सकता, क्योंकि उसके व्यवहित अवस्तु स्वरूप की कोई प्रतिकृति वस्तुतः संभव नहीं। इसलिये उसकी प्रतिकृति–साधना अब अरूप प्रतिमान प्रतिकृतियों की तरह अनंत रूपों का उत्स हो जाती है।

चित् का आत्म–इतरत्व अमिट रहता है। आत्मेतर हुआ चित् अपने किसी सृष्ट रूप को इतर जान कर अपने 'सच्चे' आपे की ओर मुड़ना चाहे तो इस गति में वह इतर का इतर ही हो सकता है – उसका इतरत्व मिट नहीं सकता। पर उसकी यह आत्मप्रतिकृति–साधना की गति ही जगत् को अर्थ–विस्तार देती चलती है, अर्थ की नई नई संभावनाओं में फलवती होती है। और क्योंकि यह चित् की गति है, गति एक अपना अंतःविधान बनाये रखती है (इसके बिना अर्थ को रूप देना उसकी सार्थक सृष्टि संभव नहीं)। पर यह सब हो इसलिये पाता है क्योंकि आत्मव्यवहित चित् स्वरूपेण साध्य ही रहता है। चित् का आत्मस्वरूप, जो सृष्टि के साथ ही आत्मव्यहित हो गया है, वह अब आप्तव्य नहीं हो सकता, पर वही सारी आप्तियों का उत्स होता है। उसका न होना ही होने की योनि होता है। उसकी आत्मप्राप्ति की साधना ही जगत् को रूप देती है। गति देती है : क्योंकि चित् का आत्मसर्जन एक निरंतर व्यापार है, यह न हो तो 'जगत्' ही न रहे।

सृष्टि के अर्थ–विस्तार को चित् के आत्मज्ञान का व्यापार भी कह सकते हैं। इसे लक्ष्य में रखते हुए शल्य जी एक और उपनिषद् वाक्य आगे रखते हैं, आत्मा वा इदमेव अग्र आसीत् नान्यत् किन्चन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति – 'एक आत्मा ही आरंभ में था, ऐसा और कुछ नहीं था, जो देख रहा हो। उसने ईक्षण किया, 'लोकों की सृष्टि करूं'। (ऐतरेय उपनिषद्, 1,1)। आत्म–व्यवहित होकर ही चित् आत्म–वीक्षण कर सकता है, अन्यथा यह संभव नहीं। पर आत्मवीक्षण का निमित्त आत्मज्ञान होता है। अपने को देखता चित् अपने को जानना चाहता है, अन्यथा देखने का अर्थ क्या ? यों चित् का अर्थसृजनमय लोकावतरण उसका अपने को जानने का भी प्रयास कहा जा सकता है। अर्थ का ज्ञान या साक्षात्कार और उसका सृजन एक ही चेष्टा के दो अभिन्न पक्ष हैं। और यों सृष्टि ज्ञानोन्मुख व्यापार है तो प्रमाण–व्यापार भी है। यह निरी मिथ्या कल्पना नहीं। इसे स्वप्न से नहीं मिलाया जा सकता जो कि परतंत्र होता है। न इसे माया या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वासना–दिग्ध विकल्प–सृष्टि कह सकते हैं, जो अनात्म होती है। और यह भी है कि सृष्टि–व्यापार के प्रमाणधर्मी होने के कारण भ्रांति की, दोष की संभावना भी इसमें घर करती है। चित् की आत्मगवेष्यता इसका लक्षण है। हम देखते हैं श्रेयबोध के साथ वह अपने ही पूर्ववर्ती रूप को त्याज्य पाता है।

उपनिषद् की उक्ति को ध्यान में रखते हुए, चित् के लोकावतरण को लोक–विस्तार की एषणा के रूप में भी समझा जा सकता है (लोकान्नु सृजा)। कहा जा सकता कि सृष्टि मूल में आत्मा (चित्) की एषणा एक से अनेक होने की अभीप्सा है। लेकिन तो भी, इस चेष्टा में भी, चित् आत्मव्यवहित हो कर ही प्रवृत्त हो सकता है। सृष्टि का मर्म वही आत्मगवेष्य आत्मसाध्यता रहता है।

आपत्ति की जा सकती है कि ज्ञान और सृजन परस्पर विरोधी धरणाएँ हैं : सृजन कल्पना–मूलक होता है, और ज्ञान याथातथ्य का ग्रहण। पर सोचिये। अपने ही ज्ञान–व्यापार की थाह लेकर देखिये। ज्ञान–व्यापार भी सृजन–कल्पना के बिना संभव नहीं। हम अपने को अर्थ की सृष्टि करते हुए ज्ञानोन्मुख पाते हैं। और ज्ञान–व्यापार को हम सृजन–कल्पना में निष्ठ पाते हैं। विज्ञान इन्द्रिय–लब्ध रूपों को भूत–जगत् के रूप में कल्पित कर एक प्रत्यय–जगत् का विस्तार करता है। भौतिक क्या है? इस आत्म–उपस्थापित तत्त्व को जानने के लिये विज्ञान के सिद्धांत–तंत्र का विस्तार होता है। इसमें ज्ञान–व्यापार कल्पनापेक्षी होता हुआ सिद्धांत–तंत्रों की रचना करता है। पर यह कल्पना–व्यापार निरी कपोल–कल्पना का मिथ्या–व्यापार नहीं होता, क्योंकि प्रमाण–बोध में निष्ठ होता है, और इसमें भ्रम की संभावना बीजभूत रहती है। पर विज्ञान को ही क्यों (जिसे हम ज्ञान मानते ही हैं), कला को लीजिये। वहां सृजन–कर्म में कल्पना की उपलब्धि अनायास होती है। कला हमारे अनुभूत विषयित्व का, या कहिये भाव–जगत् का, व्यंजना की अनंत संभावनाओं के माध्यम से अपनी तरह सृजन–प्रसार करती है। पर यहां भी कल्पना थोथी कपोल कल्पना नहीं होती। संगति की, प्रमाण की अपनी मांग यहां भी बनी रहती है – नहीं तो किसी कलाकृति की सदोषता की, साध्यता की, त्याज्यता की बात ही नहीं की जा सकती। दर्शन को देखें तो वहां भी हम यही देख पाते हैं – वहां तो उभरती दृष्टियां अपना विषय और अपनी प्रत्यय–निष्ठ विषयिता – या कहिये ज्ञान और ज्ञेय – दोनों को स्वातंत्र्येण सृष्ट करती देखी जा सकती है; पर प्रमाण–व्यापार वहां

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

युक्ति–उपपत्ति की कठिन मांग करता भी देखा जा सकता है। श्रेयबोध जो आत्मचेतना के और तद्गत ज्ञान–व्यापार के साथ ही उभरता है वह तो एक स्वतंत्र ही नहीं, अभूतपूर्व जगत् की सृष्टि करता उभरता है। इसे चित् की आत्मगवेषणा के ही एक नये पर्व के रूप में देखा जा सकता है। शल्य जी मनुष्य में ही नहीं, चित् में भी इसे आत्मचेतना के साथ ही एक उत्क्रांत स्फोट के रूप में देखते हैं। मनुष्य में इसे प्रतिफलित पाते हैं। इस प्रतिफलन को हम नये प्रत्ययों के रूप में भी देख सकते हैं : जैसे मानव–समाज का, तन्नद्ध संस्कृतियों का उदय, जो श्रेयबोध के बिना संभव नहीं। व्यक्तिभाव का भी उदय इस उत्क्रांति का फल है। व्यक्तिभाव संकल्प का अपेक्षी होता है जो श्रेयबोध की अपेक्षा रखता है। व्यक्ति और समाज में नई संभावनाएँ, साध्यताएँ रूप लेती हैं, जो अब तक अनहोनी थीं। संस्कृति के साथ चेतना ही एक प्रकृति से ऊर्ध्व स्वतंत्र धरातल पर आ जाती है। व्यक्ति में उतरती है, जहां श्रेयबोध बड़े नये उन्मुक्त रूप लेता दिखता है। व्यक्ति संस्कारों से उठ कर संस्कृति को नये रूप देने की प्रेरणा, व्रत, भी पालता है। ऐसी प्रधानतः व्यक्ति निष्ठ प्रेरणा अध्यात्म में, विचार में, दर्शन में विशेष फलवती होती देखी जा सकती है।

अब तक चेतना पराङ्मुख थी, अपने अर्थ को अपने बाहर देख और पा रही थी, पर अब अपनी ओर मुड़ती है, प्रत्यङ्मुख होती है तो अर्थ का एक नया आयाम, नया संसार प्रकट होता है। सच पूछिये तो उसकी आत्मार्थ गवेषणा का आरंभ ही अब होता है। श्रेयबोध के जागने को इस नये आयाम का हृदय कह सकते हैं, पर इसमें यह भी व्यंजित है कि चेतना अब अपने पूर्ववर्ती रूप को हेय, सदोष समझती है।

श्रेय की कोटि रूप लेती है तो नये प्रत्ययों में रूप लेती दिखती है। इसका मार्मिक लक्षण अहिंसा के प्रत्यय में देखा जा सकता है। प्रकृति में हम 'जीवो जीवस्य भोजनम्' को जीवन का तत्त्व पाते हैं, अहिंसा का प्रकृति में कोई अर्थ ही नहीं। पर मनुष्य की अहिंसाबोध के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। अहिंसा परार्थ भाव की सूचना है जो मनुष्य के व्यवहार का ही मूल है। अहिंसा में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का स्फुट इंगित है। परार्थ–बोध के साथ ही सर उठाता अहिंसा का श्रेयत्व मनुष्य में (भाषा ही की तरह) आत्मचेतना के आविर्भाव के साथ ही रूप लेता दिखता है। मैत्री, प्रेम, करुणा, परदुःखदुःखित्व...... ही नहीं, न्यायबोध, गृध्नुता की त्याज्यता, अस्तेय..... इसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव की अभिव्यक्ति हैं। ये प्रत्यय हैं, अभूतपूर्व प्रत्यय : इनमें साध्यता, संभावनामयता प्रकट है।

मनुष्य में परार्थ–तत्त्व को रूप देने की साधना कई रूप लेती दिखती है। यह तत्त्व समाज–चेतना के धर्म–शासित होने के मूल में ही निहित है। इसमें नृशंस्यता की हेयता का बोध भी स्वरूप–निहित है। तभी सतयुग जैसी कल्पनाएँ रूप लेती हैं। व्यक्तियों में अहिंसा की साधना व्यापक से व्यापकतर रूप लेती दिखती है (और इस माध्यम से कुछ अध्यात्मपंथों, समुदायों में)। तीर्थंकरों को देखें, या उन वायुभुक् मुनियों को जो साधना के पाक से साथ पेड़ों से गिरे सूखे पत्ते भी नहीं खाते थे। पर अहिंसा साध्य ही बनी रहती भी दिखती है। समाजों में क्षीण ही रहती है। समाज, राज्य, समूह–समुदाय, इस स्तर पर युद्ध जैसा परस्पर–संघर्ष तो मनुष्य का स्वभाव ही प्रतीत होता है। हां, कभी अहिंसा–बोध हमें इससे कदाचित् विमुख करता भी दिख जाता है, जैसे अशोक में, पर यह विरल अपवाद ही कहला सकता है। पर इसकी साध्य संभावना का भव्य समाजगत रूप भी हो सकता, यह गाँधी के जीवन में, उनकी साधना में, देखिये। गाँधी ने अहिंसा को सत्य (मनुष्य का वास्तव स्वरूप) कहते हुए उसे समाज के, राज्य के, मनुष्यमात्र के, सार्वजनीन स्तर पर साकार करने का महत् प्रयत्न किया। प्रयत्न क्षणिक–सीमित ही रूप ले पाया हो, पर रूप लेने की अद्भुत अविश्वस्य शक्ति थी उसमें।

श्रेय का स्रोत और प्रमाण आत्मा ही होती है। श्रेयबोध में हम चित् को अपनी ओर उन्मुख हो कर अपने स्वरूप को पाने के लिये व्यग्र देख पाते हैं। पर अपने पूर्वरूप को इतर पाकर वह अब जिधर बढ़ता है, वह नये अर्थों का विस्तार तो होता है, पर चित् की आत्मेतरत्व से मुक्ति नहीं!

तो सृष्टि का प्रश्न फिर सता सकता है : चित् सृजन–प्रवृत्त होता ही क्यों है? अपने को अपने से खोने के लिए! नहीं भी तो हो सकता था! सच यह है कि सृष्टि का होना एक उलटबाँसी ही बना रह सकता है। अनबूझ पहेली ही है सृष्टि, चाहे उसका स्रोत और स्वरूप (विज्ञान की तरह) जड़ में देखें या (वेदान्त की तरह) चित् में। हां, जड़ को आधारभूत रखें तो सृष्टि का कोई अर्थ नहीं रहता। हम, हमारी समझ, सब जड़ हो जाते हैं। समझ स्वातंत्र्य की मांग करती है, जड़ में स्वातंत्र्य की बात ही बेमानी है। और समझ जड़ हो तो वह प्रमाण–बुद्धि जो जड़ को ही सर्वस्व ठहराती है, वह भी फिर जड़ ही ठहरती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सांख्य जो सृष्टि को – विषय मात्र को – जड़ ठहराता है, वह भी विषयी को स्वतंत्र रखता है। उसे सृष्टि के मूल में रखता है : उसके सन्निकर्ष के बिना जड़ प्रकृति अव्यक्त ही रहती है, सृजन–प्रवृत्त नहीं होती। और प्रवृत्त होती है तो उसकी प्रवृत्ति का प्रयोजन ही चिन्मयपुरुष होता है। वह पुरुष–लक्षी ही नहीं होती, पुरुष–गर्भ होती हुई पुरुष–लक्षी होती है। सांख्य में बुद्धि का विशेष स्थान है, बोध या ज्ञान उसीको होता है। इन्द्रिय, मन, अहंकार, ये सभी वृत्तियाँ बुद्धि के करण हैं। ये 'द्वार' हैं, बुद्धि 'द्वारी' है। विषय का अवगाहन करती बुद्धि ही पुरुष के लिये भोग और मोक्ष, ये दोनों पुरुषार्थ साधती है (सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः/सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान पुरुषान्तरं सूक्ष्मम्//सांख्यकारिका, 37)। पर यह पुरुषार्थ व्यापार प्रवृत्त ही इसलिये होता क्योंकि पुरुष बुद्धिगत होता है; अन्यथा न यह संभव है, और न इसका कोई अर्थ है। लेकिन पुरुषार्थ साधना के केन्द्र में होते हुए भी बुद्धि सांख्य में तत्त्वतः जड़ है, स्वतंत्र नहीं है। और पुरुष (चित्) स्वतंत्र होते हुए भी तत्त्वतः अव्यापृत रहता है। सृष्टि उसके कारण होती है, पर सृजन उसका किया नहीं होता, हो नहीं सकता। जगत् को माया या प्रतीत्यसमुत्पन्न या विकल्पमात्र कहते दर्शनों में भी बुद्धि, या कहिये मनुष्य की आत्मचेतना, किसी भी रूप में स्वातंत्र्य का – और यों प्रमाण–व्यापार का – अधिष्ठान बनती नहीं दीखती, यों सत्य–साधना का आधार नहीं हो सकती। पर प्राचीन वेदान्त में (उपनिषद्वेदान्त में, जो किस भी परवर्ती वेदान्त दर्शनों का मूल है), वहां ऐसा नहीं है – जैसा कि ऊपर के उन उद्धरणों से स्फुट है, जिनसे शल्य जी का सृष्टि–चिंतन प्रेरित है।

सृष्टि हो ही क्यों, इस निगूढ़ प्रश्न पर विचार हमारे यहां उपनिषद् से भी पुराना है। ऋग्वेद का विख्यात 'नासदीय' सूक्त सृष्टि को ऐसी कूटतम प्रहेलिका के रूप में आँकता जिसका कोई उत्तर संभव नहीं? क्योंकि जो उत्तर दे सकते हैं, देते हैं, वे भी सृष्ट ही हैं। पर एक और बात भी इस सूक्त में लक्ष्य है। सूक्त सृष्टि की मूल प्रेरणा की भी बात करता है। नासदीय सूक्त का ऋषि सृष्टि को असत् से विसृष्ट देखता है। सृष्टि की प्रेरणा काम में देखता है। कहता है, '(सृष्टि के पूर्व) तम में निगूढ तम ही था, यह सब कुछ निश्चिह्न, अप्रतर्क्य सलिल था, तुच्छता से आवृत। तब तपस् की महिमा से (उस) एक ने जन्म लिया। काम प्रवृत्त हुआ जो कि मन का प्रथम रेतस् (आदिवीर्य) था। अपनी मनीषा से अपने हृदय में (क्रांतदर्शी) कवि इसे (काम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को) असत् में (जागती) सत् की ग्रंथि के रूप में जानते हैं।' स्पष्ट ही, काम को यहां व्यापकतम अर्थ में लिया गया है। सृजन–प्रवृत्ति ही काम है। या कहिये सृजन–व्यापार ही काम है।

पर जिस व्यापार की हम बात कर रहे हैं, वह काल में नहीं होता, काल तो उसके होने पर रूप लेता है (इसके देश में होने का तो प्रश्न ही नहीं)। व्यापार तात्त्विक है। यह गणित या विचार की तरह भी नहीं, जो अदेशकालिक होते हुए भी देशकाल में संवेद्य होते हैं। विचार में यह व्यापार संकेत्य ही हो सकता है – अध्यात्मानुभव में भी ऐसे संकेत की बात की जा सकती है। लेकिन भूलना न चाहिये कि यह व्यापार है, होता है, इसीलिये जगत् व्यापार है, और होता रहता है।

ऊपर हमने जीवसृष्टि और आत्मचेतना के उदय की बात की। पर सृष्टि की ओर देखते हैं तो, चित् को नहीं हम अचित्, जड–भौतिक– को ही सर्वत्र प्रसृत पाते हैं। जीव का होना तो क्षुद्र सी घटना दिखती है। यह ठीक है, लेकिन परिमाण को युक्ति के रूप में नहीं लिया जा सकता। प्रश्न यह है कि भौतिक को हम तत्त्वरूपेण समझें कैसे? उसका चित् के आत्मसृजन व्यापार में क्या स्थान ?

हम भौतिक का आकलन विज्ञान से करने के आदी हैं आज, और भौतिक में साध्यता का निषेध विज्ञान की स्वनियत दृष्टि है। पर यह पूर्वग्रह ही है, या जान बूझकर अपनाया हुआ पूर्वाग्रह कहिये। भौतिक को प्रसुप्त चित् के रूप में सहज ही देखा जा सकता है, जैसा कि शल्य जी देखते हैं, चित् के जगद्भाव की गर्भावस्था के रूप में। अगर भौतिक को यों न देखें तो फिर भौतिक विशुद्ध इन्द्रय–विषय रह जाता है। और विशुद्ध इन्द्रिय–विषय क्या है, इसका ग्रहण इन्द्रिय नहीं कर सकती, यह विचार में ही संभव है। विचार इसे बौद्धों की तरह स्वलक्षण के रूप में उपपादित कर सकता है, या कांट की तरह स्वरूपतः अविज्ञेय कह दे सकता है। पर स्वलक्षण अनिर्वाच्य है, उसके बुद्धलक्षण होने में क्या उज्र हो सकता है, और जो अविज्ञेय है वह स्वरूपेण शिवमय भी हो ही सकता है। भौतिक को विशुद्ध उपादान के रूप में भी देखा जा सकता है। हमारा व्यवहार, और उस व्यवहार के विस्तार के रूप में विज्ञान भी, इसका इसी रूप में ग्रहण करता है। प्रयोग करता है।

भौतिक से हम वानस्पतिक का विकास देखते हैं। इसे जीवत्व और भौतिकत्व के बीच की कोटि कहा जा सकता है, यहां प्राण है, पर इन्द्रियां

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं हैं, पर उस ओर उन्मुख प्रवणता इसमें पाई जा सकती है। चेतना इससे ऊपर उठकर ही स्फुट रूप लेती है। चित् के जगद्भाव का चेतन प्रसार मनुष्य से पहले पाशव सृष्टि में ही पाते हैं हम। पशु में इन्द्रियाँ रूप लेती हैं, विकसित होती हैं, एक भोगमय विषयित्व उभरता–बढ़ता देखा जा सकता है। शल्य जी इसे चेतना के वासनात्मक प्रवर्तन के रूप में देखते हैं। विषय यहां भोग्यार्थ ही होता है, और विषयीतत्सात् या तन्निमज्जित। उसके लिये विषय की अपनी सत्ता कुछ नहीं होती। यहां भी विषय ज्ञानेन्द्रियगम्य और कर्मेन्द्रियसाध्य ही होते हैं, पर विषयी के लिये उनकी सत्ता की कोई स्वतंत्र बाह्य जगत्–स्थित अवगति नहीं होती। हां, विषय की स्वगत सत्ता का इतना सा परिचय यहां पाया जा सकता है कि पशु के लिये विषय भोग्य ही नहीं, भोग–बाध कभी होता है।

विषयी के (मनुष्य में) आत्मचेतन होने पर (विषयी के अपने आप को विषय बना पाने पर ही), बाह्य जगत् की स्वस्थित बाह्यता, विषय का स्वस्थित विषयत्व और उसकी भौतिकता, ये गृहीत होते हैं।पर प्रत्यङ्मुखता में घर करती हुई आत्मचेतना बाह्योन्मुखता से, विषयोन्मुखता से निवृत्त होकर ही, या कहिये आत्मोन्मुख होकर ही, विषय–चेतन होती है। विषय से निवृत्त होकर ही विषय को विषय की स्थिति देती है चेतना। इससे जिस अर्थ–सृष्टि का विस्तार होता है, उसकी चर्चा हम कर आये हैं। पर आत्मोन्मुख होकर चेतना इस विषय –संसार को अनात्म भी पाती है। जगत् गत अर्थ–संसार को वितत से विततर करते हुए भी इस संसार में अपने को 'परदेशिनी' पाती है। यहीं श्रेयबोध के जन्म का बीज भी देखा जा सकता है। और इस बोध के साथ चेतना अपनी ही पूर्व वासनार्थ या भोगार्थ प्रवृत्ति को ही हेय नहीं पाती, अपनी अर्थ–सृष्टि से भी विमुख होती दिखती है।

तभी श्रेयबोध का तीव्रतम संवेग आध्यात्म में देखा जा सकता है, जहां परदेशिनी को घर लौटने के लिये उत्कंठ पाते हैं हम। शल्यजी ने छांदोग्य उपनिषद् में आये नारद–सनत्कुमार वार्ता का एकाधिक बार उल्लेख करते हैं। वार्ता में नारद सनत्कुमार से आत्मज्ञान की प्रार्थना करते हैं। नारद ज्ञान–कहलाते ज्ञान के सभी उपलब्ध रूपों में प्रवीण थे। इतिहास, पुराण, व्याकरण, कल्प, गणित, तर्क, नीति, नृत्य–संगीत। पर इन्हें वे अनात्म पाते हैं। इनसे उस आत्म का ज्ञान नहीं मिलता जो अमृत है, सुख है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भूमा है, हमारा सत्य—स्वरूप है। ये ज्ञान अल्प हैं, इनमें भूमा नहीं, अमृत नहीं। ये आत्म से इतर हैं। उसकी ओर नहीं ले जा सकते।

पर शल्यजी के लिये अध्यात्म भी अर्थों का विस्तार ही है। अध्यात्म में अर्थ के नये शिखर खुलते देखते हैं। अर्थों का पूरा एक तुंगतम विभु—लोक खुल जाता है यहां। इस लोक की बड़ी उदात्त, बड़ी अपार—अगाध संभावनाएँ हैं,पर आत्म का आत्मेतरत्व यहां भी बना रहता है। अपने से तत्त्वतः आत्म व्यवहित चित, अपने से एकात्म हो नहीं सकता, अपने को स्वरूपतः पा नहीं सकता। इस पाने की खोज में अर्थ का विस्तार ही करता चला जा सकता है। हम कल्पना कर सकते हैं, युक्तितः कर सकते हैं—कि उसकी आत्मोन्मुख यात्रा के और भी पर्व उभरेंगे—मनुष्य में और मनुष्य के आगे। पर यह यात्रा यात्रा ही बनी रह सकती है ।

यहां शल्यजी की दृष्टि में एक अनाप्ति की, अकृतार्थता की, या कहिये नित्य विरह की वेदना देखी जा सकती है, जिसे वे अपनी तरह से ध्वनित भी करते हैं, अपने अंतिम लेखन में।

ऊपर मैंने यथासंक्षेप शल्य जी और उनकी तत्त्व—दृष्टि का एक अपना—सा चित्र उकेरने की चेष्टा की है। पर कविता की तरह ही दार्शनिक विचार का अंतः स्पंद किसी निरूपण में नहीं समा सकता। मेरा आशय यह रहा है कि आपके भीतर उनके लेखन में उतरने की जिज्ञासा को कुछ लौ दे सकूं।

किसी भी गहरी और व्यापक तत्त्व—दृष्टि में मनुष्य के विभिन्न पक्षों को अपनी तरह से आँकने—समझने की आँख होती है, शक्ति होती है। शल्य जी ने स्वयं ही अपनी दृष्टि को यह फैलाव दिया है। मनुष्य के सर्वस्व को विस्तार से समझा—आँका है उन्होंने। संस्कृति, समाज पर उनकी स्वतंत्र पुस्तकें हैं। उन्होंने धर्मनीति, इतिहास, विज्ञान, काव्य जैसे विषयों पर प्रसृत लेखन किया है। अन्य दार्शनिकों और दर्शनों पर भी शल्य जी ने बड़ी सूक्ष्म पैठ और पैनी सूझ के साथ लिखा है। तुलनात्मक दर्शन पर उनका लेखन मननीय है। मेरा ध्यान शल्यजी के प्रौढ़ चिंतन पर रहा है। पर उनकी विचार — यात्रा लंबी है और उसमें स्फुट सोपान उभरते देखे जा सकते हैं।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड,
जयपुर-302019

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *आप चर्चा के लिए विस्तार में जाना चाहें तो देखें, संवाद : डॉयलॉग बिट्विन टू फिलॉसफिकल ट्रैडिसन्श, प्रकाशक, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1991*
2. *ऋग्वेद–10,129, 3–4–कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मार्क्सवाद : सामाजिक डार्विनवाद के सभ्यता विमर्श में मानववादी क्रान्तिधर्मिता

विश्वनाथ मिश्र

महाभारत और मार्क्स के चिन्तन में एक समानता यह है कि दोनों ही अस्तित्वमान सभ्यता की विश्वदृष्टि की आलोचना करते हैं तथापि, दोनों में एक मौलिक अन्तर भी है। वह यह कि, महाभारत कुरूक्षेत्र का धर्मयुद्ध है और मार्क्सवाद वर्गयुद्ध का कुरूक्षेत्र है। मार्क्सवाद को वर्गयुद्ध का कुरूक्षेत्र कहने का यहाँ आशय यह है कि इसमें भौतिक अन्तर्विरोध से उत्पन्न मानवीय समस्या को भौतिक अन्तर्विरोधों के एक दूसरे प्रतिमान के द्वारा सुलझाने का प्रयास किया गया है। इस विश्व में आज भी मानवीय समस्याओं के मूल में निहित भौतिक अन्तर्विरोधों को उद्‌घाटित करने वाले विमर्शों में मार्क्स का योगदान अद्वितीय है। किन्तु मानवीय चेतना का वैसा वस्तुकरण जिसे मार्क्स पूँजीवाद की नियति समझते हैं वह मनुष्य को न तो किसी तरह के क्रान्तिकारी गुणात्मक परिवर्तन के लिये सक्षम बनाती है और न ही उससे तार्किक रूप से ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। फिर भी उन्होंने न केवल ऐसी अपेक्षा की बल्कि इसके लिये एक ऐसा विमर्श तैयार किया जो अपने क्षैतिज एवं उर्ध्वाधर कलेवर में मानवीय चिन्तन के सभी पहलुओं को समाहित करता है। किन्तु यह विमर्श अपने उत्स से अन्त तक अपने विरोधी ध्रुवों में सामन्जस्य स्थापित करने में विफल रहा है। इसी विफलता ने मार्क्सवाद को एक वैकल्पिक सभ्यता को प्रस्तावित करने के स्थान पर उदारवादी–औद्योगिक सभ्यता के मीमांसक की भूमिका से आगे नहीं बढ़ने दिया। मार्क्सवाद के भीतर के विरोधी ध्रुवों की उपस्थापना निम्नलिखित रूप से ही जा सकती है।

1. मानवीय प्रकृति : स्वतन्त्रता और सुरक्षा का द्वन्द्व
2. यन्त्र एवं उद्योग : समृद्धि, समानता एवं निर्धारणवाद
3. भाषा : आधार या अधिसंरचना का प्रश्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

I

मानवीय प्रकृति : स्वतन्त्रता और सुरक्षा का द्वन्द्व

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और समाज व्यवस्था में क्रान्तिकारी बदलाव क्यों अपेक्षित है ? इस प्रश्न का मार्क्सवादी साहित्य में सबसे स्वाभाविक उत्तर यह है कि क्रान्तिकारी बदलाव इतिहास की गति का स्वाभाविक परिणाम है।[1] सर्वहारा वर्ग के सदस्य जीवन का मोह त्यागकर ऐसे किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये क्यों अपनी बलि चढ़ाना चाहेंगे, जिसका स्वरूप एवं प्रक्रिया आकारिक (अवधारणात्मक) रूप से स्पष्ट नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इस रक्तरंजित क्रान्ति में उनके पास खोने के लिए कुछ भी नहीं है और पाने के लिये सम्पूर्ण विश्व है (मार्क्स एवं एंगेल्स 2013 : 71) तब भी यह विचार करना आवश्यक है (और इस तरह से विचार किये जाने की गुंजाईश मार्क्स की रचनाओं में ही उपलब्ध भी हैं) कि जब मार्क्स मकड़ी और मधुमक्खी के कार्यों तथा मनुष्य के कार्यों में अंतर करते हैं और कहते हैं कि मनुष्यों में अपने कार्यों को अंजाम देने से पूर्व उस कार्य की संरचना को अपने मस्तिष्क में एक काल्पनिक आयाम देने की प्रवृत्ति होती है तो (कैपिटल–I, 198) ऐसी स्थिति में वे क्रान्ति के मानसिक काल्पनिक आयाम को क्यों नहीं अंजाम देंगे। कार्ल मार्क्स मानते भी हैं कि सचेतन प्रणाली होने के नाते सर्वहारा क्रान्ति के पूर्व इसके विभिन्न आयामों की अवधारणा अवश्य करेंगे। यहाँ स्वाभाविक है कि इस अवधारणा में उनके पास ग्रीककाल में दासों के विद्रोह से लेकर फ्रांस की राज्य क्रान्ति की सफलता एवं विफलता का इतिहास बोध भी होगा। उनके समक्ष दास युग से पूँजीवादी युग तक आते–आते विकास और समृद्धि की ऐसी कहानी भी होगी जिसमें भले ही पूँजीवादियों ने बाजी मार ली हो पर सर्वहारा समूह को भी प्रकृति की दासता से मुक्ति दिलाने में विज्ञान, तकनीक एवं संस्कृति के योगदान को रेखांकित किया गया हो। उनके समक्ष कम से कम सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी (मात्र पूँजीवाद के परिप्रेक्ष्य को लेने के कारण) के मध्य विधिक सुधारों के द्वारा मानवीय स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की प्रत्याभूति के लिए राज्य के सकारात्मक अवदानों का लेखा–जोखा भी होगा। कुछ नहीं तो कम से कम रक्तरंजित क्रान्ति में मारे जाने पर पत्नी, बच्चों एवं अन्य आश्रितों की चिन्ता तो होगी ही। क्रान्तिधर्मी सर्वहारा ने इतिहास में अपने ही मित्रों को विश्वासघात करते भी देखा था। फिर वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कैसे यह विश्वास करेगा कि अब की बार विश्वजनीन क्रान्ति में दुनिया के सभी मजदूर जो राष्ट्रीय सीमाओं के परे तो दूर अपने देश की सीमा में ही सभी के सभी एक दूसरे को जानते तक नहीं हैं; कैसे एक ही लक्ष्य के लिये प्रेरित होंगे।

इन प्रश्नों का मार्क्स के पास एक ही उत्तर है। वे मानते हैं कि पूँजीवाद में वर्ग विरोध इतने विकराल हो जायेंगे कि सर्वहारा का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। अर्थात् वह क्रान्ति नहीं करने पर भी अन्ततः मारा ही जायेगा। अतः क्रान्ति मार्क्स के लिये मृत्यु के भय से मृत्यु का वरण एक मात्र और अन्तिम विकल्प है जिसमें सर्वहारा को निश्चित विजय के द्वारा मृत्यु (शोषण) के कारणों को उन्मूलित कर देने की दृढ़ प्रत्याशा है। यहाँ मार्क्स के चिन्तन में एक विशेष विरोधाभास है। वे अधिष्ठान को जितना हो सकता है उतना अशक्त मान लेते हैं और फिर उसी से नवसृजन की समस्त अपेक्षायें भी पाल लेते हैं। प्रस्तुत लेख के इस खंड में मार्क्स के चिन्तन की उक्त विसंगति को उनके द्वारा वर्णित मानवीय प्रकृति के विश्लेषण से उजागर करने का प्रयास किया गया है। मार्क्स मनुष्य को ऐसा भौतिक एवं संवेदी प्राणी मानते हैं जो प्रकृति से सीमित और उस पर निर्भर होते हुए भी अपने विचारों एवं योजनाओं द्वारा प्रकृति में वांछनीय परिवर्तन करने में सक्षम है (आइरिंग फिशर 1973 : 466)। स्वयं मार्क्स भी लिखते हैं कि मनुष्य को जानवरों से चेतना, धर्म और अन्य आधारों पर अलग समझा जा सकता है। वे स्वयं भी अपने आपको पशुओं से पृथक् समझने लग जाते हैं जब वे अपने निर्वाह के साधनों को उत्पन्न करने लग जाते हैं। जीवन निर्वाह के साधनों को उत्पादित करते हुए वे अपने वास्तविक भौतिक जीवन का भी निर्माण करने लगते हैं (मार्क्स एवं एंगेल्स 1939 : 75)।

उपर्युक्त पंक्तियों के पाठ में विचार, चेतना और योजना बनाने की क्षमता के आधार पर मनुष्य को पशु जगत् से अलग बताया गया है। किन्तु, यह नहीं बताया गया है कि मनुष्य की इन प्रवृत्तियों का स्रोत क्या है और इन प्रवृत्तियों का स्वरूप क्या है? इन प्रश्नों के स्पष्टीकरण के लिये मार्क्स के एक अन्य उद्धरण का सहारा लिया जा सकता है। जहाँ वे स्पष्ट करते हैं कि स्वयं समाज भी वैसे ही मनुष्य को मनुष्य के रूप में निर्मित करता है जैसे मनुष्य समाज को निर्मित करता है। मनुष्य की गतिविधियाँ और उपभोग के प्रारूप अपने अस्तित्व में ही सामाजिक हैं। सामाजिक गतिविधि और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामाजिक उपभोग प्राथमिक रूप से ही मानवीय प्रकृति के अंगभूत हैं। (कार्ल मार्क्स 1844 : 103–104)। मार्क्स के इस उत्तर में मनुष्य की सामाजिक प्रकृति का आभास तो मिलता है, पर वह धुंधला है। इस धुंधलेपन के दो कारण हैं। प्रथम, इस उद्धरण में समाज मनुष्य को मनुष्य बनाता है, यह स्वीकार करते हुए भी मार्क्स ने अरस्तू की तरह यह स्वीकार नहीं किया है कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी सौद्देश्यता के कारण है और न ही हीगल की भाँति उसमें किसी उच्च नैतिकता का आरोपण ही किया है। द्वितीय, सामूहिक उपभोग की गतिविधि से मानवीय सामाजिकता को परिभाषित करने की कोशिश मनुष्य में किसी वैसी संचेतना का आरोपण नहीं कर सकती है जिसके आधार पर मनुष्य को पशु जगत् से गुणात्मक रूप से पृथक् किया जा सके।

उपर्युक्त सैद्धान्तिक बाधा को मार्क्स के एक दूसरे उद्धरण से सुलझाने की कोशिश की जा सकती है। आर्थिक एवं दार्शनिक पाण्डुलिपि में ही एक स्थान पर उनका मत है कि अन्य जीवों की भाँति मनुष्य भी अनुकूलित, सीमित एवं पीड़ित प्राणी है। उसकी संवेदनाओं के अभिप्रेरक उसके बाहर और उससे पृथक् स्वतन्त्र रूप से स्थित हैं। यद्यपि यह सभी वस्तुएँ (प्रकृतिजगत्) उसकी अभिव्यक्ति के लिये अपरिहार्य हैं जिससे उसके सार की पुष्टि होती है (कार्ल मार्क्स 1844 : 156)। आगे वे यह भी कहते हैं कि 'भूख एक प्राकृतिक आवश्यकता है' और इसकी पूर्ति के लिये एक बाह्य प्रकृति, जो व्यक्ति से स्वतन्त्र एवं पृथक् है, आवश्यक है। ऐसा जीव जिसके लिये अपने से बाहर की प्रकृति जरूरी नहीं है और जो प्रकृति की व्यवस्था में कोई भूमिका नहीं निभाता है वह प्राणी ही नहीं है (कार्ल मार्क्स 1844 : 157)। कार्ल मार्क्स का यह कथन अरस्तू के उस वाक्य की पुनरूक्ति है जहाँ अरस्तू कहते हैं कि 'जो व्यक्ति समाज में रहने में असमर्थ है अथवा जिसे आत्मनिर्भर होने के कारण समाज की आवश्यकता नहीं है वह या तो पशु है या देवता' (अरस्तू–पालिटिक्स बुक–I : 29) है। परन्तु, अरस्तू की भाँति मार्क्स मानव प्रकृति के संबंध में इतना स्पष्ट प्रस्ताव देते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि मार्क्स भौतिकता से ही चेतना को निर्मित होते हुए बताया जाए या नहीं, इस उलझन में आद्योपान्त रहे हैं। फलतः वे यह तो मानते हैं कि मनुष्य मात्र प्रकृति पर निर्भर ही नहीं है अपितु उसका रूपान्तरण भी कर सकता है। पर ऐसा रूपान्तरण मनुष्य क्यों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करेगा, इसके प्रत्युत्तर में मार्क्स दो ही बातें कहते हैं और वह है स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा की अभिलाषा।

द्रष्टव्य है कि भूख से स्वतन्त्रता, भय से स्वतन्त्रता, पीड़ा से स्वतन्त्रता और इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये जिन संसाधनों की आवश्यकता है उनकी उपलब्धता की व्यवस्था और सुरक्षा के अतिरिक्त मार्क्स के चिन्तन में मनुष्य की कोई और नियति नहीं है। वे उदारवादियों की भाँति मनुष्य को अहंवादी, शक्तिकामी और स्वार्थी नहीं घोषित करते हैं। जबकि, मार्क्स जिस पूँजीवादी व्यवस्था की समालोचना का जीवन पर्यन्त प्रयत्न करते रहे हैं उसमें यह एक मौलिक प्रश्न है। पूँजीवादी व्यवस्था के समाज दर्शन में उदारवाद द्वारा प्रस्तावित मानवीय प्रकृति के किन–किन अस्वाभाविक दोषों को मान्यता दे दी गई है जिसमें शोषण एवं अन्याय प्रतिष्ठित हो जाते हैं; यह उनका प्रस्थान बिन्दु नहीं है। मार्क्स के द्वारा यह भी प्रस्तावित किया जाना अपरिहार्य था कि जब मानव प्रकृति एक ही प्रकार की होती है और आदिम युग में सभी मनुष्यों का प्रस्थान बिन्दु एक ही है तब आगे चलकर वर्ग विभाजित समाज में दो अलग–अलग प्रकार की सामूहिकता का आधार क्या है?

मार्क्स ने उक्त प्रश्नों का समाधान किए बिना जिस मानव प्रकृति की चर्चा की है उसमें सामाजिकता वास्तव में एक आकस्मिक गुण है। यह बाह्य प्रकृति के द्वारा उत्पन्न की गई बाध्यताओं के दबाव का परिणाम है। बाह्य प्रकृति की बाध्यताओं के दबाव से अनुकूलन की क्षमता आदिम युग में आयु, शारीरिक बनावट, अनुकरण द्वारा सीखने की प्रवृत्ति और विशेष परिस्थितियों से निकल जाने में संयोग की भूमिका आदि पर निर्भर करते हैं। अतः अनुकूलन के परिणाम स्वरूप सब में एक ही प्रकार की दक्षता, सक्रियता एवं मानसिक विन्यास का जन्म नहीं होता है। इस तथ्य की मार्क्स के द्वारा उपेक्षा की गई और स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को मनुष्य की अभिप्रेरक प्रकृति के रूप में स्वीकार कर लिया गया। एक हद तक मार्क्स के इस प्रयास को त्रुटिरहित कहा जा सकता है। किन्तु, जब वे स्वतंत्रता एवं सुरक्षा की प्रवृति में ही सामूहिकता के बीज ढूढ़ने लगते हैं तब सामाजिकता का प्रश्न उनके लिए साधनात्मक और रणनीतिक महत्त्व का हो जाता है।

समाज एवं सामाजिकता के प्रति मार्क्स की यह साधनपरक और रणनीतिक दृष्टि ही है जो उन्हें आदिम युग से लेकर सर्वहारा क्रान्ति तक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बार–बार मनुष्यों के समाज और उनकी सामाजिकता को बदलते रहने के ज्ञान की प्रस्तावना करने हेतु प्रेरित करता रहा है। ऐसा करते हुए मार्क्स यह भूल जाते हैं कि मानवीय अस्तित्व के अन्तर्गत जन्म एवं मृत्यु, मानव शरीर की जैव–रासायनिक क्रियायें तथा आकस्मिकतायें इत्यादि किसी भी साधनपरक एवं रणनीतिक मानवीय योजना की पकड़ से बाहर ही रह जाती हैं। इसी तरह परिवर्तन एवं स्थायित्व के मध्य समायोजन की मानवीय क्षमता भी असीमित नहीं है। इस संबंध में हन्ना एरेन्ट तो यहाँ तक कहती हैं कि मनुष्य की परिवर्तन एवं स्थायित्व संबंधी इच्छा हमेशा एक दूसरे से सन्तुलित एवं नियन्त्रित होती रहती है (लिरॉय ए. कूपर 1976 : 145–46)। परन्तु, मार्क्स ने स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा की प्राप्ति के लिए पूँजीवादी उत्पादन संबंधों में क्रान्तिकारी बदलाव के द्वारा यह अपेक्षा कर लिए और समझ बैठे कि मात्र उत्पादन का विवेकीकरण और विकेन्द्रीकरण हो जाने से ही एक ऐसे पुनर्वितरण प्रणाली का उद्भव हो जायेगा जिसमें स्वतन्त्रता और सुरक्षा सबको उपलब्ध हो जायेगी। फलतः परिवर्तन पर स्थायित्व और नवीनता पर व्यवस्था प्रभावी हो जायेगी।

मानव प्रकृति की सामाजिकता को प्रकृति के विरूद्ध मानवीय प्रतिक्रिया में खोजने के प्रयास की अनेक तार्किक एवं दार्शनिक सीमायें हैं। मार्क्स की ही तरह यदि इस समस्या का भौतिक एवं मानवशास्त्रीय समाधान पर ही विश्वास कर लिया जाय तब भी यह तो स्वीकार करना ही होगा इससे पशु जगत् की सामाजिकता को समझा जा सकता है। किन्तु, इससे होमोसेपियन्स से आगे की सामाजिकता का उद्घाटन सम्भव नहीं है (हैबरमास 1975 : 288)। मार्क्स जिस 'सामाजिक श्रम' की बात को स्वीकार करते हैं और जिसे अन्त तक महत्त्व देते हुए कहते हैं कि उत्पादन एक सामूहिक क्रिया है और इसके लाभ का वितरण भी सामूहिक रूप से होना चाहिए। इस सामूहिकता का परिचय दास युग से पूर्व नातेदारी संबंधों पर आधारित उत्पादन प्रणाली में भी मिल जाता है। इस प्रणाली में भी लिंग भेद, आयुभेद और सक्षमता भेद के आधार पर कार्यविभाजन पाया जाता है। प्रस्थिति और दायित्व से स्वतन्त्रता इस युग में भी नहीं है। यहाँ भी मनुष्य प्रलोभन, उलाहना, प्रताड़ना और सुरक्षा की प्रेरणा से ही कार्य करता है। दास–पूर्व युग में भी जिसे मार्क्स आदिम साम्यवाद कहते हैं उत्पादन के जो भी साधन हैं उस पर सबका सामूहिक अधिकार होता नहीं है। अपितु, यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अधिकार नातेदारी संबंधों से उद्‌भूत परिस्थिति एवं दायित्व पर निर्भर हुआ करता है।

ऐसा नहीं है कि आदिम साम्यवाद में कोई शोषण एवं अन्याय नहीं है। विगत् सौ वर्षों में हुए मानवशास्त्रीय एवं जीवाश्मीय अध्ययनों से यह प्रमाणित होता है कि नातेदारी या परिवार जैसी व्यवस्था का उदय 'नियंडरथल मानव' में ही हो चुका था। तथापि, उनमें अपने शिशुओं या परिजनों या नहीं तो समूहेतर नियंडरथल मानव को मारकर खा जाने की प्रथा थी। यहाँ भी मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा के लिए स्वयं पर्याप्त नहीं था। बल्कि इसके लिये वह अपनी क्षमता के साथ–साथ अपने नातेदारी पर निर्भर करता था और इसकी कीमत (सेवा का प्रतिदान) भी चुकाता था। यह सही है कि पुरातात्त्विक–मानवशास्त्र या जीवाश्मीय–मानवशास्त्र ने जितनी विपुल ज्ञानराशि का भंडार आज हमारे समक्ष उपलब्ध कर दिया है उतना मार्क्स के समय नहीं था। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि मार्क्स के चिन्तन में एक ओर प्राक्पूँजीवादी समाजों की सामाजिकता के ह्रास के प्रति करूण रूदन है तो दूसरी ओर इन समाजों में व्याप्त अभाव एवं रूढ़िवादिता के प्रति तीव्र घृणा भी है। ठीक इसी प्रकार सामंती समाजों के अभाव को दूर करने एवं वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास में पूँजीवाद के योगदान के प्रति उनके चिन्तन में अद्‌भुत प्रशंसाभाव है। परन्तु, प्राचीन संबंधों के स्थान पर नवीन सामाजिक संबंधों के प्रति, जिसे पूँजीवाद ने जन्म दिया है, वे घृणा का भाव रखते हैं।[2]

मार्क्स के चिन्तन के इस विरोधाभास को कालान्तर में नव–मार्क्सवादियों ने 'तरूण मार्क्स' और 'प्रौढ़ मार्क्स', 'मानवतावादी मार्क्स' और 'क्रान्तिधर्मी मार्क्स' तथा 'दार्शनिक पाण्डुलिपि का मार्क्स' एवं 'कैपिटल का मार्क्स' के बीच संगति या असंगति के आधार पर सुलझाने का उपक्रम किया है। इन विचारकों में से एक लुई अल्थ्यूसर (फॉर मार्क्स : 1969) का विचार है कि 1845 से पहले की मार्क्स की रचनाओं और इसके बाद की रचनाओं में निरन्तरता का अभाव है। इस अभाव को वे 'ज्ञानमीमांसीय' अन्तराल' की संज्ञा देते हैं। उनका मानना है कि दार्शनिक पाण्डुलिपि एवं कैपिटल में समस्या–समूह को समझने के लिए जिस सैद्धान्तिक ढाँचे का विकास किया गया है वे एक दूसरे से सर्वथा कटे हुए हैं। अतः 1845 से पूर्व की रचनायें अवैज्ञानिक हैं और बाद की रचनाओं में ही वैज्ञानिक–मार्क्सवाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की स्थापना हुई है। अल्थ्यूसर ने संरचनावाद का सहारा लेकर मार्क्सवाद को समझने का प्रयास किया है और क्रांतिधर्मिता को मार्क्स के मूल मन्तव्य के बतौर प्रतिपादित किया है। वे विश्वजनीन सर्वहाराक्रान्ति की संभावना को अपने 'अतिनिर्धारण'[3] की अवधारणा के माध्यम से एक नया अर्थ–सन्दर्भ प्रदान करते हैं किन्तु साथ ही साथ इसकी संभावना से परहेज भी रखते हैं।

अल्थ्यूसर के वैचारिक ढाँचे से देखने पर मानव स्वभाव के संबंध में प्रारम्भिक मार्क्स की मानववादी धारणायें बेमानी सिद्ध होती हैं (अल्थूसर 1969 : 219–224)। मानव प्रकृति की व्याख्या में मार्क्स जिस सीमा तक मनुष्य को 'स्वतन्त्रकर्ता' के रूप में मान्यता देते हैं और व्यवस्था का निर्माण या उसमें रूपान्तरण की उसकी क्षमता को स्वीकार करते हैं, उतनी स्वायतत्ता उसके पास होती नहीं है। क्योंकि, जैसा कि अल्थ्युसर मानते हैं– मनुष्य संरचनाओं को बनाता नहीं है अपितु संरचनायें ही मनुष्य को बनाती हैं। वे लकाँ की अवधारणा 'इमैजिनरी' का उपयोग करते हुए बताते हैं कि मनुष्य का अपने वास्तविक परिस्थितियों से एक काल्पनिक संबंध भी होता है। इन संबंधों को वह वास्तविक मानता है, जबकि वे प्रतीति भर होते हैं। इस प्रतीति को परिवार, शिक्षा, कानून और धर्म जो कि विचारधारा के उपकरण हैं वह व्यक्ति को अन्तस्थ करा देते हैं। फलतः वह स्वतः स्फूर्त तरीके से समाज एवं राज्य के विचारों को स्वीकार करता चला जाता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य जो कि संज्ञा है खुद को ही कर्ता एवं स्वतन्त्र मानने लगता है।

अब मानव चेतना से जुड़े एक अन्य प्रश्न के समाधान के लिये समालोचनात्मक सिद्धान्त के प्रसिद्ध हस्ताक्षर मैक्स होखाईमर पर दृष्टिपात करना यहाँ प्रासंगिक है। वह प्रश्न यह है कि प्रतीति को ही वास्तविकता मान लेने पर जिस मानवीय चेतना में मार्क्स क्रान्ति की सम्भावना ढूढ़ते हैं, स्वयं उसकी क्या सीमायें और सम्भावनायें हैं ? होखाईमर कहते हैं कि मार्क्स ने सभ्यता को प्रौद्योगिकी के अंधाधुंध विस्तार से जो खतरा है उसको ठीक से नहीं समझा है। प्रौद्योगिकी जो कि अनुभवमूलक विज्ञानों की देन है उसका मानव मूल्यों से कोई उचित सरोकार नहीं है। परन्तु, मार्क्स जब उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ी संकल्पनाओं को आँख बन्दकर स्वीकार कर लेते हैं तब उनके निष्कर्ष विश्वसनीय नहीं रह जाते हैं। होखाईमर वर्तमान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सभ्यता को रोगग्रस्त सभ्यता मानते हैं पर इसके बदलाव के लिये वे मार्क्स की भौतिकवादी और नियतिवादी व्याख्या को ही पर्याप्त नहीं समझते हैं। इसका कारण वे यह बताते हैं कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिक शक्तियों को ही प्रधानता दी है और सचेतन मानवीय चिंतन की उपेक्षा की है। इस उपेक्षा के कारणों को भी वे विश्लेषित करते हैं और कहते हैं कि मार्क्स के चिन्तन में 'तर्कबुद्धि की सर्तक स्वाधीनता' धीरे–धीरे प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद की गिरफ्त में आ गया है। वर्तमान रोगग्रस्त सभ्यता को बदलने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के सम्पूर्ण रूपान्तरण की आवश्यकता है। परन्तु, मार्क्स उत्पादन संबंधों में बदलाव के जरिये ही इस सम्पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेने का भ्रम पाल बैठते हैं। होर्खाइमर वास्तव में जिस बात को कहना चाहते हैं वह यह है कि प्रौद्योगिकी के प्रति बुर्जआ की जो धारणा है उसी धारणा को अपनाकर सर्ववहारा क्रान्ति के द्वारा शोषण एवं अलगाव की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता है (होखाईमर 2002 : 233–40)।

परन्तु, मार्क्स इस बात को क्यों नहीं समझे कि प्रौद्योगिकी के प्रति बुर्जआ की जो ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा है उसी को अपनाकर वर्ग विहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता है। इस प्रश्न का एक उत्तर प्रसिद्ध नव–वामपंथी विचारक थियोडोर एडार्नो ने देने की कोशिश की है। वे मार्क्स को उन विचारकों में रखते हैं जिन्होंने ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में 'मूल आरम्भिक तर्क' खोजने की कोशिश की है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण सृष्टि का विश्लेषण किया जा सके (एडार्नो एवं होखाईमर : 2002)। एडार्नो मानते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में इस तरह का तर्क खोजने का प्रयास एक खतरनक प्रवृत्ति को जन्म देता है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य को जड़ वस्तु मानकर उसे एक ही साँचे में समझने और ढालने की कोशिश होती है। इससे दमन और सर्वाधिकारवाद को बढ़ावा मिलता है। मानव प्रवृत्ति को लेकर उदारवादी सिद्धान्तों में भी यह दोष है। मार्क्स ने भी सिद्धान्त एवं व्यवहार की द्वन्दात्मकता को मान्यता देते हुए भी जिस तरह से व्यवहार की प्रधानता स्वीकार कर लिया उसमें वे भी इस सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति के शिकार हो गये हैं। मानव प्रवृत्ति की वास्तविकता जबकि यह है कि इसको मात्र परिमाणीकरण के द्वारा नहीं समझा जा सकता है। हर मनुष्य की चेतना में विशिष्टता अन्तर्निहित है। इसी विशिष्टता के कारण प्रत्येक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य की रूचियाँ, अभिव्यक्ति, सौन्दर्यबोध, प्रतिक्रिया करने या अनुकरण करने की विधि, वांछनीयता की परिभाषा आदि अलग–अलग हुआ करते हैं। इस विविधता को मान्यता देने के लिये मनुष्यों में गुणात्मक भिन्नता को स्वीकार करना आवश्यक है। मनुष्यों के मध्य गुणात्मक भिन्नता को संक्षिप्त करते हुए उनमें मात्रात्मक समानता का दर्शन करना पश्चिमी ज्ञानोदय की उत्कट प्रेरणाओं में से एक है। यही प्रेरणा मानव की प्रकृति निर्धारण में मार्क्स का भी पथ प्रदर्शक रहा है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि मार्क्स मानवजाति में जिस समानता का दर्शन करते हैं वह केवल मात्रात्मक समानता है। यह वास्तविक मनुष्य की प्रकृति नहीं है अपितु मार्क्स की कल्पनाओं वाले मनुष्य की प्रकृति है और यही उनकी क्रान्ति का वाहक भी है।

II

मशीन : समृद्धि, समानता और निर्धारणवाद

कार्ल मार्क्स अपने दास कैपिटल भाग एक के पन्द्रहवें अध्याय का प्रारम्भ जॉन स्टुअर्ट मिल के एक कथन से करते हैं। कथन यह है कि यह संदिग्ध है कि आज तक के मशीनों के विकास ने शायद ही किसी मनुष्य के दिन भर की मेहनत को हल्का किया हो। यन्त्र एवं औद्योगिक सभ्यता के सन्दर्भ में मानवीय चिन्तन के प्रारम्भ से ही (यद्यपि अतीत में औद्योगिक सभ्यता तीन सौ वर्षों से पूर्व नहीं थी तथापि अतितकनीकवाद के प्रति शंकायें विद्यमान रही हैं) दो परस्पर विरोधी विचारधारायें रही हैं। ग्रीक मिथकों में फ्रैंकेस्टाइन का दानव एवं भारत में आसुरी सभ्यता का विमर्श अतियन्त्रवाद से उपजे मानवीय पीड़ाओं का ही रेखांकन करते हैं। आधुनिक युग के पूर्व ईस्लाम में मशीन को 'शैतान' की संज्ञा देना और ईसाईयत में एडम तथा ईव को स्वर्ग से निष्कासित किया जाना तकनीकी विवेक की दूषित प्रवृत्तियों की ही कहानी है। आधुनिक युग में पश्चिम में हाईडेगर, मारक्यूज एवं फिनवर्ग के साथ–साथ भारत में गाँधी की लेखनी में भी यान्त्रिक सभ्यता की आलोचना की गई है। इसके विपरीत मशीन को मुक्ति का संवाहक मानने वाली विचारधारा का भी न केवल आदि काल से ही समर्थन किया गया है, बल्कि यही आज की प्रभावी विचारधारा भी है।

मार्क्स की स्थिति कुछ ऐसी है कि वे यन्त्रों एवं औद्योगिक सभ्यता में ही मानव मुक्ति का बीज देखते हैं। उनकी चिन्ता का विषय यह है कि मशीन एवं उद्योग वर्ग विभाजित समाज में मुक्ति के संवाहक नहीं बन सकते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं किन्तु वर्ग विहीन समाज में वे यन्त्रों को मुक्तिदाता के रूप में देखते हैं। मार्क्स के चिन्तन का यह एक ऐसा विरोधाभास है जहाँ वे यन्त्रों के द्वारा मानव के अमानवीयकरण की भुमिका को समझते तो हैं पर इसको दूर करने के लिये यन्त्रों की प्रयोजनमूलकता और यन्त्रों द्वारा अपेक्षित तकनीकी विवेक की तह में नहीं जाते हैं। बल्कि, इनके वर्ग चरित्र और वर्गभेदी उपयोग के उन्मूलन का ही प्रस्ताव करते हैं। मार्क्स के द्वारा ऐसा किये जाने के पीछे उनके उद्देश्य का सार यह है कि वे समृद्धि से उत्पन्न मानवीय समानता को ही मानव गरिमा का आधार मानते हैं। प्रस्तुत प्रपत्र के इस खण्ड में यन्त्र एवं औद्योगिक सभ्यता के प्रति मार्क्सवादी विमर्श के इसी पक्ष को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

मार्क्स के चिन्तन में यन्त्रों एवं औद्योगिक सभ्यता के प्रति जो दृष्टि है उसमें स्वतन्त्रता एवं निर्धारणवाद का द्वैत है (गोल्डर 198:37)। इस द्वैत की अभिव्यक्ति उनकी अनेक रचनाओं में हुई है। वे औद्योगिक पूर्व इतिहास को बर्बरता की संज्ञा देते हैं (कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र : 35)। वे एशिया की सबसे प्रमुख क्रान्ति में ब्रिटेन के औद्योगिक सभ्यता के सम्पर्क में आने को मानते हैं। उन्होंने भारत को इतिहास का विषय बन जाने से रोकने में ब्रिटेन से और उसकी औद्योगिक सभ्यता से सम्पर्क की हर सम्भव प्रशंसा की है (ऑन इन्डिया : 1.57)। परन्तु, एशिया (प्रकारान्तर से सम्पूर्ण विश्व) के परम्परागत समुदायों के साहचर्य, आत्मीयता, त्याग जैसे गुणों के ह्रास के लिये भी औद्योगिक सभ्यता के वर्ग संबंधों की भरपूर निन्दा भी की है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि उत्पादन में अतिशय वृद्धि के लिये तकनीक की अनिवार्यता को मार्क्स स्वीकार करते हैं और इसे अपरिहार्य मानते हैं जो कि एक वास्तविकता भी है। यह समृद्धि के क्षेत्र का तकनीकी निर्धारणवाद है। परन्तु, मार्क्स तकनीक के सामाजिक–सांस्कृतिक निर्धारणवाद के प्रति दोहरा मापदण्ड अपनाते हैं। वे लिखते हैं कि उत्पादन की शक्तियों में बदलाव उत्पादन के संबंध को भी बदल देते हैं और इसी से सामाजिक क्रान्ति की शुरूआत होती है (कार्लमार्क्स 1917: 20.21)। यह तकनीक के सामाजिक निर्धारणवाद का ही मामला है। किन्तु, मार्क्स को तकनीक के सामाजिक निर्धारणवाद से जो घृणा है उसका कारण वे स्वयं तकनीक को न मानकर वर्ग संबंध में पूँजीपति को मानते हैं (यह भूसामन्त एवं दास का स्वामी भी हो सकता है)। यह दोनों अवधारणायें आपस में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असंगत हैं। यदि तकनीक में बदलाव से वर्ग संबंध बदलते हैं तब तकनीक ही इन संबंधों का अधिष्ठान कारण बनता है। परन्तु मार्क्स परिणाम को बदलने के लिये अधिष्ठान को बदलने के बजाय उपादान को बदलने का सुझाव रखते हैं।

मार्क्स के चिन्तन में इस विसंगति के क्या कारण रहे हैं, यह उनके लेखन में बिखरे हुए कुछ सूत्रों को एकत्रित करने से मिल जाता है। इन बिखरे हुए सूत्रों के एकत्रीकरण के लिये यह देखना आवश्यक है कि मार्क्स मनुष्य के लिए किस प्रकार के जीवन की अपेक्षा करते हैं और उनके लिये स्वतन्त्रता का क्या मूल्य है ? जर्मन आइडियोलॉजी में वे लिखते हैं कि, साम्यवादी समाज में जहाँ समाज उत्पादन को नियमित करता है वहाँ किसी के लिये भी कार्य का कोई विशेषाधिकार क्षेत्र नहीं होता है जिसमें दूसरे प्रविष्ट न हो सकें। इस स्थिति में सबके लिये सम्भव होगा कि वे किसी एक दिन एक कार्य करें और दूसरे दिन दूसरा कार्य करें। सुबह शिकार करें, दोपहर में मछली पकड़ें और रात्रि भोजन के पश्चात् समालोचना में भाग लें (कार्ल मार्क्स एवं एंगेल्स 1976:47)। वस्तुतः यह एक उन्मुक्त स्वतन्त्रता है जो अकूत समृद्धि के बाद भी शायद ही आ सकती हो। मार्क्स की यह प्रतीति है कि इस अवस्था में कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा बल्कि सहयोग करेगा। विशेषाधिकार के क्षेत्र नहीं होगें और इस वजह से लोगों में समानता होगी। सबसे बढ़कर प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार एवं प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार समाज संगठित होगा (कार्ल मार्क्स 1933:31) इस कारण समान स्वतन्त्रता पर आधारित समानता की व्यवस्था होगी। इन उदाहरणों और ऐसे ही अनेक आकर्षक प्रस्तावों में मार्क्स तकनीकी उत्पादन की समृद्धि में मानवीय स्वतन्त्रता एवं समानता का दिग्दर्शन करते हैं। द्रष्टव्य है कि अपने उक्त वैचारिक संयोजन में मार्क्स दो प्रश्नों से हमेशा दूरी बनाये रखते हैं। इसमें प्रथम प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है और दूसरे प्रश्न के दो आन्तरिक संवर्ग हैं। प्रथम, औद्योगिक सभ्यता के केन्द्रीकृत उत्पादन प्रणाली में कार्य विशेषीकरण एवं कार्य विभाजन की जो अपरिहार्यता है वह स्वयं तकनीक की माँग है या वर्ग विभाजित समाज की माँग है ? द्वितीय–(क), तकनीकी उत्पादन प्रणाली की औद्योगिक सभ्यता के जनपुंज समाजों में प्रत्यक्षबोध (पुरातन समाज) आधारित सामाजिक संबंधों का पुनरोद्भव कैसे होगा ? द्वितीय–(ख), यदि यन्त्र भी विशिष्टता,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शैली एवं अभिरूचि को जन्म देते हैं तब इससे मनुष्य को अमानवीकृत होने से कैसे बचाया जायेगा ?

ऊपर के परिच्छेद में जिस प्रथम प्रश्न की चर्चा हुई है उसके परिप्रेक्ष्य में कुछ व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा ताकि सन्दर्भ को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सके। मानव प्रकृति के मार्क्सवादी विश्लेषण और साम्यवादी अवस्था की व्याख्या पर सूक्ष्म रूप से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानव पूँजीवादी व्यवस्था में प्रशिक्षित एवं वयस्क होकर साम्यवादी व्यवस्था में नींद से मानो जाग गया है। जहाँ उसे शरीर, मन और मस्तिष्क को गढ़ने की जरूरत नहीं है और उसके जीवन सम्भरण की सुरक्षा समाज ने ले रखी है। परन्तु, वास्तविकता में जैविक बन्धनों से मुक्ति के लिये शिक्षण और प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। उसे उत्पादन का हिस्सा बनने के लिये भी अभियान्त्रिकी के परिचालन को समझना होगा और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में उसे उस जगह फिट बैठना होगा जिसके लिये वह अपने को सबसे उत्तम समझता हो। इन अपेक्षाओं की पूर्ति कार्य–विशेषीकरण और श्रम विभाजन के नियमों का अनुपालन किए बिना किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। अश्वशक्ति से परिचालित मशीन हों या आणविक शाक्ति से संचालित महामशीन, वह सब बिना गहन प्रशिक्षण के संचालित नहीं किये जा सकते हैं। चूँकि; यह गहन प्रशिक्षण श्रम, समय, धन और अभिरूचि साध्य हैं, इसी कारण सभी लोग इस प्रकार के प्रशिक्षण के सहभागी नहीं हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि मनुष्य आज एक कार्य और कल दूसरा कार्य नहीं कर पायेगा। बल्कि प्रतिदिन वह वही कार्य करेगा जिसके लिये वह प्रशिक्षित है। श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण के लौहनियम के अपवाद यद्यपि नहीं हो सकते हैं। इसके कुछ अपवाद वस्तुविनिमय प्रणाली के युग में लौटने पर मिल सकते हैं, पर मार्क्स उसे बर्बर मानते हैं।

मार्क्स को यह प्रतीति थी कि औद्योगिक उत्पादन में मशीनों में स्वचालन (आटोमेशन) का अविष्कार इस लौह नियम को तोड़ देगा। साथ ही नवीन तकनीकी अविष्कार से उत्पादक शक्तियों की संवहनीयता बढ़ेगी और उससे केन्द्रीकृत उत्पादन प्रणाली को लोकतांत्रिक एवं मानवीय स्वरूप प्राप्त हो जायेगा। इस तथ्य को समालोचनात्मक सिद्धान्तकारों में से एक एन्ड्रयू फिनबर्ग ने मशीनों की रूपरेखा तैयार करने में वर्ग विभाजित समाज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की राजनीतिक—आर्थिकी का विश्लेषण करते हुए समझाया है (फिनबर्ग 2002: 3—4)। वे कहते हैं कि मशीनी उत्पादन की प्रक्रिया से एक बड़े जन—समूह को अलोकतान्त्रिक तरीके से बाहर रखना राजनीतिक निर्णय होता है। इसकी अमानवीय त्रुटियों को दूर करने के लिये तकनीक का लोकतान्त्रिक रूपान्तरण आवश्यक है। इस सूत्र वाक्य का वे विस्तार नहीं करते हैं। किन्तु, पूँजीवादी औद्योगिक उत्पादन में मशीनों की संरचना और सत्तावादी प्रबन्धकीय नियमन के प्रति उनकी जो आपत्तियाँ हैं उनसे तीन तत्त्व निकलकर सामने आते हैं। प्रथम, औद्योगिक उत्पादन के परिक्षेत्र का विकेन्द्रीकरण। द्वितीय, औद्योगिक उत्पादन के विकेन्द्रीकृत परिक्षेत्र में जन—समाज की सहभागिता। तृतीय, यन्त्रों की ऐसी संरचना जिससे उनके संचालन की जटिलता दूर हो सके और सामान्य जन भी गहन विशेषज्ञता के बिना इनका संचालन कर सकें।

निश्चित ही मार्क्स के तकनीक सन्दर्भित विमर्श को आगे बढ़ाने में फिनबर्ग की अन्तर्दृष्टि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। औद्योगिक सभ्यता के आगे के विकास में कुछ हद तक इन अपेक्षाओं की पूर्ति भी सम्भव है परन्तु, प्राकृतिक संसाधनों की सीमायें, स्वयं प्राकृतिक पर्यावरण एवं स्थलाकृति की संरचना दुनिया के प्रत्येक क्षेत्र को न्यूयार्क, मैनहट्टन और पेरिस बनने से रोकती है। फिर भी तकनीकी प्रगति के बल पर यदि यह सब सम्भव हो जाये और यहाँ तक कि पंचतत्त्वों की प्रकृति में परिवर्तन लाना भी सम्भव हो जाये तब मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन भी मशीनों से आच्छादित हो जायेगा। इस अवस्था में सम्पूर्ण मानवजाति मशीनों के निर्माता और मशीनों के उपभोक्ता और प्रयोक्ता में बट जायेगी। तब एक नये प्रकार के विशेषीकरण और श्रम विभाजन का जन्म होगा जो आज की स्थिति से कहीं अधिक खतरनाक एवं पीड़ादायक होगा।

अब उस दूसरे प्रश्न पर लौटते हैं जो मशीनी उत्पादन के औद्योगिक सभ्यता में जनपुंज समाजों में प्रत्यक्ष बोध आधारित संबंधों के ह्यास से उत्पन्न हुआ है। अपनी जड़ों से उखड़े हुए और परस्पर एक दूसरे से अनजान परन्तु एक दूसरे पर निर्भर लोगों का विशाल समाज जनपुंज समाज है (डेनियल बेल 1956: 75—76)। जनपुंज समाजों का निर्माण मनुष्य के अमानवीयकरण की एक सतत गाथा है। इस गाथा को औद्योगिक समाज अपने उन दावों के जरिये लिखता है और जिसके प्रलोभन में लोग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गाँव–देहात, नाते–रिश्तेदारी, परम्परागत आस्था और मूल्य तथा जीवन के प्रति सहज भाव तथा प्रकृति के प्रति सहज अनुराग को छोड़कर शहरों की ओर खींचे चले आते हैं। यहाँ आकर बुर्जुआ वर्ग संबंध के अधीन लोगों की समस्त भावुकता समाप्त प्राय हो जाती है और इस समाज में मानवीय संबंध तथा संस्कृति तक पण्य वस्तु बन जाते हैं। मार्क्स ने तो यहाँ तक चिन्ता व्यक्त की है कि पारिवारिक संबंध भी धन संबंध में बदल जाते हैं (मार्क्स एवं एंगेल्स 2013: 34)। जनपुंज समाज एक आयामी समाज होता है जिसमें व्यक्ति अपना प्रामाणिक व्यक्तित्व खो देता है (मारक्यूज 2007: xvii-xviii)।

अब यहाँ विचारणीय है कि एक साम्यवादी समाज जो अनिवार्य रूप से एक औद्योगिक समाज है तो मार्क्स के पास एक–आयामी समाज और इस समाज के एक–आयामी व्यक्ति की पीड़ा को दूर करने के क्या प्रस्ताव हैं ? स्वयं मार्क्स भी यह मानते हैं कि मशीनों के व्यापक उपयोग तथा श्रम–विभाजन के कारण सर्वहारा के काम ने समस्त वैयक्तिक चरित्र और समस्त आकर्षण को गंवा दिया है (मार्क्स एवं एंगेल्स 2013: 38)। परन्तु, यहाँ भी मार्क्स का वही सूत्र है कि जनपुंज समाजों में सामाजिक मूल्यों का बिखराव औद्योगिक उत्पादन एवं यन्त्र के कारण नहीं है बल्कि इनका जो वर्ग चरित्र है उसके कारण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मार्क्स की दृष्टि में यन्त्र और उद्योग मानव के अवमूल्यन के लिये उत्तरदायी नहीं है।

मार्क्स के चिन्तन में तकनीक मूल्य संवेदी हैं, मूल्य निरपेक्ष हैं या मूल्य–तटस्थ हैं–इन प्रश्नों पर सारगर्भित चर्चा नहीं हुई हैं। वे उत्पादन के साधनों में बदलाव से उत्पादन के संबंधों में आने वाले परिवर्तन को स्वीकार करके भी पूरे प्रकरण को वर्गहित के विषय से जोड़ देते हैं। अतः बीच का रास्ता अपनाते हुए उन्हें तकनीक के संबंध में मूल्य–तटस्थ विचारक की कोटि में रखकर इस परिचर्चा को आगे बढ़ाना उर्पयुक्त होगा। यहाँ मार्टिन हाइडेगर (1977) के एक व्याख्यान के अंश को उधृत करना समीचीन होगा जिसमें वे कहते हैं कि 'गेट टैकनोलॉजी इस्पिरिचुअली इन हैंड'। इस कथन का रूपान्तरण करते हुए यह पूछा जा सकता है कि आज तक किसी ऐसी तकनीक का विकास हुआ है जो अध्यात्मिकता को बढ़ावा दे सकता हो या प्रेम तथा सौहार्द को बढ़ावा दे सकता हो। यह भी कि क्या कभी ऐसे तकनीक का विकास सम्भव है ? यदि नहीं तो तकनीक हाइडेगर के शब्दों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही किस चीज को अनवेल (प्रथमतया प्रकट करना) कर रही है। इसके तीन उत्तर हैं– भौतिकता, उपभोगवाद और वर्तमान। इन तीनों का समाहार सिर्फ भौतिकता में ही सम्भव है। ऐसी अवस्था में तकनीक के साथ मानव का और विशेषकर मानवीय चेतना का कोई 'स्वतन्त्र संबंध' नहीं रह जाता है। तकनीक मानव को भी भौतिक वस्तु बना देती है। तकनीक सबसे एक ही तरह के विवेक एवं एक ही तरह के व्यवहार की अपेक्षा करती है। यह एक ऐसी बाधा है जहाँ कर्म स्वातंत्र्य का नियम टूट जाता है और मनुष्य के पास मात्र यह विकल्प बचता है कि वह क्या करेगा इसका चयन कैसे करेगा। यह मशीनी निर्देश का विषय आगे यह भी सम्भावित है कि मनुष्य क्या करेगा यह भी मशीनी निर्णय का विषय हो। ऐसी अवस्था में मार्क्स की यह सोच कि साम्यवादी समाज में जनपुंज समाज के व्यक्ति की खोई हुई पहचान को पुनः प्राप्त कर लिया जायेगा– एक विरोधाभास बनकर रह जाता है।

साम्यवादी समाज में धर्म को अफीम घोषित करके उसे पुनः प्रतिष्ठित भी नहीं किया जा सकता है और मार्क्स की यह भी व्यथा है कि पूँजीवाद ने धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को नकद हिसाब–किताब के बर्फीले पानी में डूबो दिया है। (मार्क्स एवं एंगेल्स 2013: 33)। इस अवस्था में नैतिक चेतना के नवोन्मेष का आधार क्या होगा? समृद्धि से नैतिकता के उद्भव का कोई रिश्ता तो है नहीं। अरनाल्ड टायनबी ने इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान एक ऐसी स्थिति की ओर आकृष्ट किया है जिसकी सम्भावना की ओर मार्क्स का ध्यान नहीं था। वे कहते हैं कि महायुद्ध के बाद विश्व सभ्यता में एक नई परिघटना का उदय हुआ है और वह यह है कि अब जनपुंज समाजों ने पूँजीपति वर्ग को जीत लिया है (अरनाल्ड टायनबी 1939: 5)। इस जीत के सन्दर्भ में मेरा मानना है कि यह जीत शक्ति संबंधों में बदलाव का द्योतक नहीं है। अपितु, यह जीत बाजार और उपभोक्तावाद के अनुकूल सर्वहारा द्वारा अपने आप को ढाल लिये जाने की जीत है। इस जीत में पूँजीपतियों की हार नहीं हुई है। अपितु, सर्वहारा ने एक नया जन्म पाया है। अतः अब उसे नये–नये उत्पादों के लिये अनुकूलित नहीं होना पड़ता है बल्कि वह स्वयं ही नये–नये उत्पादों की माँग करने लगा है। यह है मनुष्य पर तकनीक का प्रभाव जो रातो–रात न तो दिखाई पड़ता है और न ही रातो–रात समाप्त होता है। आज के जनपुंज समाजों में जहाँ व्यक्ति को पहचान और प्रमाणीकरण के लिये यन्त्रों पर निर्भर रहना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पड़ता है, यह मनुष्य के मनुष्यत्व का केन्द्र–विस्थापन ही तो है। अपने स्वत्व के केन्द्र से विस्थापित मनुष्य की पुनर्वापसी जनपुंज समाजों में अब एक दिवास्वप्न ही होता जा रहा है।

इस समस्या का स्वरूप समाजवादोत्तर विश्व में अब एक नये आयाम में विकसित होता जा रहा है और इसके मूल में जनपुंज समाजों की तकनीकी विवेक का प्रमुख योगदान है। इन समाजों में मनुष्य के ऊपर सांस्थानिक नियन्त्रणों के आधुनिक उपक्रमों को तकनीकी नियन्त्रण के नवीन उपक्रमों ने विस्थापित कर दिया है। तकनीकी अपरिहार्यता यहाँ जन स्वीकृति प्राप्त कर चुकी है। अब समस्या अतितकनीकवाद से आगे बढ़कर 'अतिज्ञानवाद' के रूप में प्रकट हो रही है। इस अतिज्ञानवाद ने अपने धर्म निरपेक्ष कलेवर में ईश्वर, स्वर्ग–नर्क, और आत्मा जैसी धारणाओं को खारिज कर दिया है। यदि इसी ज्ञान से जगत् की व्याख्या का सर्वथा आरम्भिक मूल तर्क पर्यवेक्षणीय तथ्य के रूप में अनविल कर दिया जाता है तब नैतिकता, परोपकार, साहचर्य, त्याग, प्रेम आदि मानवीय गुण जैव रासायनिक अभिक्रिया के अतिरिक्त कुछ और नहीं रह जायेंगे। तब इन मानवीय कहे जाने वाले गुणों से व्यक्ति को संचालित होने की अपेक्षा भी शेष नहीं रह जायेगी और यही सामाजिक डार्विनवाद के समाज दर्शन की चरम अभिव्यक्ति होगी। वस्तुतः इस अवस्था में स्वयं मार्क्स ने मनुष्य के जिस परायेपन की पीड़ा को उजागर किया है वह निरर्थक साबित हो जायेगी। मार्क्स को यदि मानवता को पुनः प्रतिष्ठित करना ही था तो उन्हें मनुष्य के लिये समृद्धि एवं समानता के अतिरिक्त मानवोचित आध्यात्मिक लक्ष्य भी निर्धारित करना चाहिये था। किन्तु, वे स्वयं तकनीकी विश्व दृष्टि एवं सामाजिक डार्विनवाद में आकंठ डूबे चिन्तक रहे हैं और महात्मागाँधी की तहर मानवतावादी तथा आत्मपूरित जीवन दृष्टि को विकसित करने में सर्वथा असफल रहे हैं (विश्वनाथ मिश्र 2016: 45–70)

III

भाषा : आधार या अधिसंरचना

मार्क्स के समग्र दर्शन की प्राक्कलपना यह है कि 'पूँजीवाद के अन्तर्विरोध पूँजीवाद को नष्ट कर देंगे।' यहाँ यह विचारणीय है कि क्या यह व्यवस्थित अर्थोत्पादक भाषायी अभिव्यक्ति एवं एक सत्यापनीय अभिव्यक्ति है या नहीं। यदि उक्त प्राक्कलपना को एक वैज्ञानिक सिद्धान्त बनना है और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा कि मार्क्स और मार्क्सवादियों के द्वारा दावा भी किया जाता रहा है तब अवश्य ही इस भाषायी कथन को सत्यापनीय भी होना चाहिये। या कम से कम यदि हम कार्ल पॉपर की तर्क प्रणाली का अनुसरण करें तो इस कथन की असत्यापनीयता का परीक्षण–योग्य होना आवश्यक है (कार्ल पॉपर 2002: 49)। मार्क्स के उक्त कथन की सत्यापनीयता पर विचार करने हेतु यह निर्धारित कर लेना आवश्यक है कि यह कथन औपबन्धिक (कन्डीशनल) प्रस्ताव से अनौपबन्धिक निष्पत्ति है या अनौपबन्धिक प्रस्ताव से अनौपबन्धिक निष्पत्ति है। भाषायी दृष्टि से यह अनौपबन्धिक प्रस्ताव से अनौपबन्धिक निष्पत्ति है। क्योंकि इस कथन में समय, स्थान एवं प्रक्रिया का निर्देश नहीं है। परन्तु, वे अस्फुट तरीके से यत्र–तत्र यह स्वीकार करते हैं कि अधिक विकसित पूँजीवादी देशों में लोकतान्त्रिक एवं शान्तिपूर्ण तरीके से साम्यवादी क्रान्ति सम्भव है। यद्यपि वे स्वयं इसकी संभाव्यता पर शंका प्रकट करते हैं। फिर भी उक्त कथन को औपबन्धिक प्रस्ताव मानकर दुनिया के अनेक देशों में सम्पन्न हुए समाजवादी क्रान्ति को सत्यापनीयता हेतु आधार बनाया जाय तो उनमें से कोई भी राष्ट्र पूँजीवाद के उच्चतम अवस्था में पहुँचे ही नहीं थे बल्कि सामन्तवादी अवस्था में थे।

अब यदि उक्त कथन की असत्यापनीयता पर विचार किया जाय तो इसके असत्यापन के लिये एक पृथक् विश्व की आवश्यकता होगी। इसका कारण यह है कि मार्क्स सामान्य से सामान्य की निष्पत्ति करते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण मानव समाज को ही विशेष बना डाला है जो वास्तव में है सामान्य। अब यदि इस सामान्य के असत्यापनीयता का परीक्षण करना हमें हो तो ऐसे ही दूसरे सामान्यों की जरूरत तो पड़ेगी ही। अतः सत्यापनीयता और असत्यापनीयता दोनों ही दृष्टि से मार्क्स का समाजवाद वैज्ञानिक समाजवाद नहीं है। इसी कारण जैसा कि पॉपर कहते हैं कि भविष्य कथन के जरिये मनुष्य सुरक्षा विकल्पों को पुख्ता करके होने वाले नुकसान को कम कर सकता है। किन्तु, भविष्यवाणी उस स्थिति की होती है जहाँ सर्वनाश को अवश्यम्भावी जानकर भी मनुष्य विकल्पहीन होता है। पॉपर के लिए साम्यवादी क्रान्ति की सम्भावना कोई भविष्य कथन (प्रिडिक्शन) नहीं है बल्कि यह भविष्यवाणी (प्रोफेसी) है। अपने इस मत की पुष्टि के लिये पॉपर का तर्क है कि समाज व्यवस्था को सौर व्यवस्था की तरह पर्याप्त रूप से स्वतन्त्र या विलगीकृत (आइसोलेटेड) व्यवस्था के रूप में समझा नहीं जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता। समजा कोई ऐसी व्यवस्था नहीं जिसमें नियमित व्यवहार के हस्तक्षेप द्वारा परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। (कार्ल पॉपर 1960:51)। अतः समाज के सन्दर्भ में भविष्य कथन की जरूरत होती है न कि भविष्यवाणी करने की।

पॉपर का यह भी तर्क है कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में जिस प्राकृतिक विज्ञान के गति और परिवर्तन संबंधी नियम को लागू करने का प्रयास किया है वह त्रुटिपूर्ण है। प्राकृतिक विज्ञान के विषय और उनमें परिवर्तन का अध्ययन गुणात्मक रूप से अपरिवर्तनीय प्रकृति के होते हैं, जबकि सामाजिक परिवर्तन के विषय गुणात्मक परिवर्तन की प्रकृति के होते हैं। अतः कालसापेक्षिक परिवर्तन (पिरियड रिलेटिव रेगुलरिटरीज) इतिहास और समाज में गुणात्मक परिवर्तनों को उत्पन्न करते हैं। इनकी प्रकृति प्रत्येक काल–खण्ड में अलग–अलग होती है और जिनके बीच से परिवर्तन के किसी ऐसे नियम को नहीं खोज निकाला जा सकता है जो प्रत्येक काल खण्ड पर और प्रत्येक समाज पर समान रूप से लागू हो।

मार्क्स के पद्धति की उपयुक्त त्रुटियों का एक महत्त्वपूर्ण कारण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उनका संरचनावादी होना है। इस प्रभाव के कारण वे क्लाड लेवीस्ट्रास की तरह यह मान बैठे थे कि मनुष्य की मानसिक संरचनायें सर्वत्र एक ही समान होती हैं। अतः सर्वत्र वे समस्याओं का भी एक ही तरह का समाधान ढूंढते हैं। इसी तर्क की यह निष्पति है कि एक न एक दिन सभी समाज एक ही प्रकार की आवश्यकता से गुजरेंगे और एक ही प्रकार के हो जायेंगे। मार्क्स की इस दृष्टि में यूरोपीय सार्वभौमिकतावाद और यूरोपीय श्रेष्ठता का दम्भ भी है' जिसके कारण वे सम्पूर्ण ग्लोब पर उसी पूँजीवाद के आच्छादित हो जाने की भविष्यवाणी करते हैं जो उन्हीं के अनुसार यूरोप में अन्तिम सांसें गिन रहा है।

मार्क्स के भाषाशास्त्रीय रूझान और उसकी निष्पत्तियों को समझने के लिये यह सुनिश्चित कर लेना आवश्यक है कि मार्क्स के लिये भाषा 'आधार' (बेस) का तत्त्व है या 'अधिसंरचना' (सुपर स्ट्रक्चर) का तत्त्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रश्न कभी मार्क्स एवं एंगेल्स के प्रत्यक्ष संज्ञान में नहीं आया। इसी कारण यह प्रश्न जब स्टालिन से पुछा गया तो उन्होंने मार्क्स या एंगेल्स के किसी उद्धरण को सन्दर्भित न करते हुए सीधे यह कहा कि भाषा अधिसंरचना का भाग नहीं है बल्कि बेस का भाग है (स्टालिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

1972: 3)। परन्तु, यह मार्क्सवाद के अब तक के सबसे अधिक उलझे हुए प्रश्नों में से एक है। सोवियत संघ के प्रख्यात भाषाशास्त्री वोलवोसिनोव के सामने भी जब यह प्रश्न आया तो अन्होंने इसे मार्क्सवाद के सबसे जटिल समस्याओं में से एक कहकर कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया (वोलवोसिनोव 1973: 17–18)।

अब यदि स्टालिन के मत को स्वीकार कर लिया जाय और भाषा को आधार का तत्त्व मान लिया जाय तब यह भी मानना होगा कि भाषा भौतिक तत्त्व है। क्योंकि, मार्क्स आधार में अर्थव्यवस्था को ही रखते हैं जो कि भौतिक तत्त्व है। किन्तु, भाषा के बिना संस्कृति सम्भव नहीं है और संस्कृति मानसिक तत्त्व है या फिर एक वैचारिक निर्मिति है। ऐसी अवस्था में भाषा को भी वैचारिक निर्मिति मानना ही होगा। वैसे भी भाषा का उस तरह का भौतिकवास सम्भव भी नहीं है जैसा कि उत्पादक शक्तियों का होता है। यदि वैचारिक निर्मिति को (भाषा) आधार में परिगणित कर लिया गया तो अधिसंरचना के समस्त उपादानों यथा विचारधारा, धर्म, संस्कृति, नैतिकता, मूल्य एवं शिक्षा आदि पर भी इसके प्रभाव को मानना ही होगा जो कि होता भी है। इस स्थिति में मार्क्स के आर्थिक– निर्धारणवाद की संकल्पना को ही तिरोहित होना पड़ेगा।

दूसरी ओर यदि भाषा को अधिसंरचना का भाग माना जाय तो यह बताना होगा कि उत्पादक शक्तियों के कौन से उपादान भाषा को निर्मित करते हैं और इसमें परिवर्तन लाते हैं। मात्र यह कह देने में कि 'संकेत' (साइन) जगत् (अधिसंरचना) में होते हैं और 'संकेतक' (सिग्निफायर/भाषा) आधार में होते हैं कोई तार्किकता नहीं है। भाषा जो कि मानवीय साहचर्य का और समानान्तर रूप से मानवीय घृणा का सबसे प्रकट रूप है वह वर्ग विभाजित समाज के बनने से पूर्व ही अस्तित्व में आ जाता है। सम्पत्ति आधारित शक्ति संबंधों के बनने के पूर्व ही भाषायी संबंध निर्मित हो जाते हैं और इन संबंधों में साहचर्य बोधकता भी होती है तथा शत्रुभाव भी होते हैं। संबंधों को प्राथमिक पहचान भाषा से मिलती है न कि उत्पादन की शक्तियों से। यहाँ तक कि उत्पादन की शक्तियों के प्रयोग, व्यक्ति या समूह विशेष से उसका संबंध भी भाषा द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति ही नहीं है कि भाषायी नियामकता का स्वरूप आर्थिक नियामकता से कहीं अधिक व्यापक है और इसकी जड़ें अधिक गहरी हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कदाचित् मार्क्स ने यदि मानवीय सभ्यता के आर्थिक निर्धारणवादी व्याख्या के साथ–साथ भाषायी निर्धारणवाद को भी ध्यान में रखा होता तो उनकी निष्पतियाँ वास्तविक अर्थों में मूलगामी और वैज्ञानिक होतीं।

भाषा के संबंध में यह निर्धारित करने का प्रयास कि यह आधार का विषय है या अधिसंचरणा का विषय है, एक प्रयास ग्रामशी के द्वारा हुआ है। ग्रामशी की दृष्टि को इस सन्दर्भ में मूलगामी दृष्टि कही जा सकती है। क्योंकि उन्होंने न केवल आधार एवं अधिसंरचना की सापेक्षिक स्वायत्तता को स्वीकार किया बल्कि एक नई स्थापना को भी जन्म दिया है। वह स्थापना यह है कि अधिसंरचना के दो स्तर होते हैं। इनमें से प्रथम आधार के अधिक नजदीक रहकर सहमति के द्वारा सत्ता के प्रति वैधता उत्पन्न करने का कार्य करती है। इस भाग में परिवार, संस्कृति, शिक्षा, धर्म, नैतिक मूल्य आदि की गणना ग्रामशी करते हैं। अधिसंरचना के दूसरे स्तर पर ग्रामशी सत्ता के प्रति शक्ति के द्वारा वैधता उत्पन्न करने वाली संरचनाओं को रखते हैं। इस भाग में पुलिस, जेल, न्यायालय, सेना, प्रशासन, कानून आदि को उन्होंने मान्यता दी है (ग्रामशी : 1999)। प्रथम को वे नागरिक समाज एवं द्वितीय को राजनीतिक समाज में वर्गीकृत करते हैं। ग्रामशी के विश्लेषण से ऐसा आभास होता है कि वे भाषा को अधिसंरचना के प्राथमिक स्तर (नागरिक समाज) का विषय मान सकते हैं। यद्यपि ऐसा कोई स्पष्ट विवरण उनके चिन्तन में नहीं है। नागरिक समाज का विमर्श भाषा के बिना बन नहीं सकता है। यदि यह स्वैच्छिक साहचर्य है तो इसका प्राथमिक आधार भाषा ही है। ऐसी अवस्था में यदि भाषा को अधिसंरचना में सम्मिलित न करके आधार में सम्मिलित कर लिया जाय तो नागरिक समाज के स्वैच्छिक साहचर्य को मान्यता ही नहीं मिलेगी।

दूसरी ओर यदि भाषा को अधिसंरचना का विषय मान लिया जाय तो यह उत्पादन संबंधों को अभिव्यक्त करने वाला चेतन माध्यम होने के कारण आधार की प्रकृति को ही बदल देगा। इस तर्क को समझाने के लिए यहाँ एक साधारण प्रश्न प्रस्तावित किया जा सकता है। वह यह कि व्यक्ति में वाणी पहले आती है या उत्पादकता। निश्चय ही उत्पादकता की पूर्वता के बजाय वाणी की पूर्वता इतिहास की परिघटना रही है। यदि इस विषय में और गहरे उतरे तो स्वयं मानव भी ध्वनि के विकास के पर्याप्त बाद विकसित हुआ है। वास्तव में ध्वनि संकेतों और जागतिक संकेतों को एक ही संवर्ग में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखा भी नहीं जा सकता है। ऐसा करने के लिये अधिष्ठान को ही अधिष्ठान का स्रोत मानना होगा। मानवजाति के सबसे प्राचीनतम व्याकरण (पाणिनी) को देखें तो उसमें ध्वनि संकेतों को किसी भाषा से नहीं समझा गया है। ध्वनि संकेतों को दुनियावी प्रतीकों से ग्रहण भी नहीं किया गया है और न ही ग्रहण किया जा सकता है। इस स्तर पर ध्वनि संकेतों का भाषायी रूपान्तरण किसी आधार या अधिसंरचना के विषय नहीं होते हैं अपितु अद्वैत के विषय होते हैं। परन्तु, मार्क्स एवं प्रकाशन्तर से सम्पूर्ण यूरोप उस चिन्तन का वाहक नहीं है जिसमें 'नादः संधानम् संगुहितासन्धिः' या प्रणवाक्षर में मैं ऊँ हूँ" का लेशमात्र भी दर्शन हो। वास्तविकता यह है कि भाषा स्वयं भी सभ्यता के स्वरूप ग्रहण एवं निर्धारण में 'अदृश्यहाथ' (इनविजिबल हैंड) की तरह कार्य करती है। वस्तुतः मार्क्स की यह स्थापना कि सामूहिक श्रम एवं अधिशेष उत्पादन मनुष्य को पशु जगत् से अलग करती है कि अपेक्षा अरस्तू की यह स्थापना कि भाषा के प्रयोग के कारण मनुष्य पशुजगत् से भिन्न है, अधिक मूलगामी है। परन्तु, ऐसी स्थापनाओं से जिसमें 'सोद्देश्यता' (टेलियोलॉजी) या 'सद्गुण' की आवश्यकता हो, सामाजिक डार्विनवाद पर आधारित क्रान्तिधर्मी–मानववाद का सृजन सम्भव नहीं है। जबकि, मार्क्स सामाजिक डार्विनवाद के भीतर से ही नवीन सभ्यता के सूत्र प्रस्तावित करने के उपक्रम में लगे रहे हैं। परन्तु, उनका सम्पूर्ण उपक्रम आर्थिक निर्धारणवाद से मुक्ति की प्रत्याशा और सहज भाषा–बोध पर आधारित साहचर्य की प्राप्ति के मध्य झूलता रहा है। मार्क्स के इस अन्तर्द्वन्द्व के बीज कहीं और नहीं बल्कि उदारवादी पश्चिमी सभ्यता में ही हैं। यही वह अर्न्तद्वन्द्व उन्हें न तो मानव प्रकृति को ठीक से समझने दिया और न ही सामाजिक डर्विनवाद की भौतिकवादी जीवन दृष्टि से मुक्त होने दिया।

राजनीति शास्त्र विभाग
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
चेतगंज, वाराणसी-221002

पाद टिप्पणी :–

1. यह भी उत्तर दिया जा सकता है कि यह पूँजीवाद के अन्तर्विरोध की स्वाभाविक परिणति है। वर्गशोषण की समाप्ति के बिना एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। सामूहिक उत्पादन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रणाली के लाभों का सामूहिक पुनर्वितरण के लिये ऐसा किया जाना आवश्यक है। ऐसे उत्तरों का समाहार इसी में है कि क्रान्तिकारी बदलाव इतिहास की गति का स्वाभाविक परिणाम है।

2. इस कथन की प्रति पुष्टि के लिये कम्युनिष्ट पार्टी के घोषणा पत्र का निम्न लिखित उदाहरण अद्वितीय महत्त्व का है।
"बुर्जआ वर्ग ने, जहाँ भी उसका पलड़ा भारी हुआ है, सभी सामंती, पितृसत्तात्मक, "सौम्य संबंधों" का अन्त कर दिया है। उसने मनुष्य को अपने स्वाभाविक श्रेष्ठों के साथ बांध रखने वाले संबंधों की निर्ममता पूर्वक धज्जियाँ उड़ा दी है और नग्न स्वार्थवाद के नकद पैसे कौड़ी के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा संबंध बाकी नहीं रहने दिया है। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आन्दातिरेक को वीरोचित उत्साह एवं कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को स्वार्थमय हिसाब–किताब के बर्फीले पानी में डूबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय मूल्य में परिणत कर दिया है और अनगिनत प्रदत्त तथा अर्जित स्वाधीनताओं की जगह उस एक अनैतिक स्वाधीनता की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं। एक शब्द में धार्मिक और राजनीतिक भ्रान्तियों के आवरण के पीछे छिपे शोषण के स्थान पर उसने निर्लज्ज, नग्न, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषण की स्थापना की हैं (मार्क्स एवं एंगेल्स 2013: 33)।

3. 'अतिनिर्धारणवाद' की अवधारणा के माध्यम से अल्प विकसित देशों में समाजवादी क्रान्ति की सम्भावना को अल्थ्यूसर ने समझाने का प्रयास किया है। वे मानते हैं कि अल्पविकसित देशों में भी 'अन्य अन्तर्विरोधों' का ऐसा संयोग उपस्थित हो सकता है जो क्रान्ति का अवसर उपलब्ध कर सकते हैं।

4. यद्यपि मार्क्स के समर्थक तर्क देते हैं कि यह मार्क्स में यूरोपीय श्रेष्ठता का दम्भ नहीं हैं बल्कि इतिहास की गति के अनिवार्य नियम का परिणाम है। प्रस्तुत लेखक ने जिस पक्ष का वरण किया है उसे मार्क्सवादी प्राच्यविदों की रचना में भी देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में ओरियेन्टलिज्म (एडवर्ड सईद : 2001) द्रष्टव्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मार्क्स एवं एंगेल्स (2013), कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

कार्ल मार्क्स (1976) दास कैपिटल भाग–1, प्रोगेश पब्लिशर्स, मास्को

आइरिंग फिशर (1973), कार्ल मार्क्स ऑन ह्यूमन नेचर, सोशल रिसर्च, भाग–40, अंक–3

मार्क्स एवं एंगेल्स (1939), द जर्मन आइडियोलॉजी, इन्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क।

कार्ल मार्क्स (1844), इकोनॉमिक एण्ड फिलासफिक मैन्युस्क्रिप्ट, फॉरेन लैंग्वेजेज पब्लिसिंग हाउस, मास्को।

अरस्तू (1902), पालिटिक्स भाग–1, (डब्ल्यू.एल.न्यूमैन, सं.), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।

जुर्गेन हैबरमास (1975), टुअर्डस ए रीकनस्ट्रकशन ऑफ हिस्टोरिकल मैटरलिज्म, थ्योरी एण्ड सोसाइटी, भाग–2, अंक–3

लिरॉय ए. कूपर (1976) हन्ना एरेन्ट्स पॉलिटिकल फिलॉसफी : ऐन इन्टरप्रेटेशन, द रीव्यू ऑफ पॉलिटिक्स, भाग–38, अंक–2

लुई अल्थ्यूसर (1969), फॉर मार्क्स, द पेग्विंन प्रेस, पेरिस।

मैक्स होखाईमर (2002), क्रिटिकल थ्योरी (मैथ्यू जे. ओकोनेल एवं अन्य सम्पादित), कन्टीन्यूअम, न्यूयार्क।

मैक्स होखाईमर एवं थियोडोर एडार्नो (2002) डाईलेक्टिक ऑफ इन्लाइटेनमेंट, स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफोर्ड।

ए. डब्ल्यू गोल्डनर (1980), द द्रू माक्सिर्जम्स : कन्ट्राडिक्शन्स एण्ड एनोमिलिज इन द डेवलपमेन्ट ऑफ थ्योरी, सेबरी प्रेस, न्यूयार्क।

कार्ल मार्क्स एवं एंगेल्स (1853), ऑन इण्डिया, एचटीटीपी : @ डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.मार्क्सिसिस्टओआरजी.27/11/17 को देखा गया।

कार्ल मार्क्स (1971), ए कन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटकल इकोनामी इन्टरनेशनल पब्लिशर्स, लंदन।

कार्लमार्क्स एण्ड एंगेल्स (1976), जर्मन आइडियोलॉजी, (अन्तर्गत मार्क्स संग्रहित समग्र भाग–3), प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को।

कार्ल मार्क्स (1933), क्रिटिक ऑफ द गोथा प्रोग्राम, इन्टरनेशनल पब्लिसर्श, न्यूयार्क।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एन्ड्रयू फिनबर्ग (2002), ट्रान्सफार्मिंग टेक्नोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूयार्क।

डेनियल बेल (1956), द थ्योरी ऑफ मास सोसाइटी, कमेन्ट्री, भाग–22, अंक–1

हरबर्ट मारक्यूज (2007), वन डायमेन्शनल मैन, राउटलेज क्लासिक न्यूयार्क।

मार्टिन हाइडेगर (1977), द क्वेश्चन कनसरनिंग टेक्लोलॉजी, एचटीटीपी : @ डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.इंगलिशहवाईइडुगाईड. 28/11/17 को देखा गया।

अरनॉल्ड टायनबी (1939), ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री, भाग–5, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।

विश्वनाथ मिश्र (2016), गाँधीवाद : समकालीन विमर्शों के आलोक में हिन्द स्वराज की मीमांसा, उन्मीलन, वर्ष–30, अंक–1

कार्ल पॉवर (2002), कन्जक्चर्स एण्ड रेफ्युटेशन्स : द ग्रोथ ऑफ साइन्टिफिक नॉलेज, राउटलेज, न्यूयार्क।

कार्ल पॉपर (1960), द पावर्टी ऑफ हिस्टोरीसिज्म, राउटलेज क्लासिक, नन्दन।

जे.वी. स्टालिन (1972), माक्सिज्म एण्ड प्राब्लम्स ऑफ लिंग्विस्टिक्स, फॉरेन लैंग्वेज प्रेस, मास्को।

वी.एन. वोलवोसिनोव (1973), मार्क्सिज्म एण्ड द फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज, सेमिनार प्रेस, न्यूयार्क।

एडवर्ड सईद (2001), ओरिएण्टलिज्म, पेग्विंन बुक्स, नई दिल्ली।

एन्टोनियो ग्रामशी (1999), सेलेक्शन्स फॉम द प्रिजन नोटबुक्स, एलेक बुक लंदन।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रमाकान्त त्रिपाठी का अद्वैत दर्शन

आनन्द मिश्र

बीसवीं सदी में अद्वैत चिन्तन को वैश्विक प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले आचार्यों में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और राधाकृष्णन् का नाम सर्वोपरि है। नानाविध विषयों पर चिन्तन के बावजूद इनके चिन्तन का मुख्य फलितार्थ अद्वैत है। भट्टाचार्य और राधाकृष्णन् की अद्वैत चिन्तन की इस परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो0 रमाकान्त त्रिपाठी (1918–1981) का नाम अग्रगण्य है।[1] प्रो0 त्रिपाठी राधाकृष्णन् के साक्षात् शिष्य रहे और उनके ही निर्देशन में उन्होंने स्पिनोजा एवं अद्वैत वेदान्त पर महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किया था जिस पर उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की डी.लिट्. की उपाधि प्रदान की गयी थी। पश्चात् यह शोधप्रबन्ध 'स्पिनोजा इन द लाईट ऑफ द वेदान्त' के नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें राधाकृष्णन् के तुलनात्मक दर्शन, निरपेक्ष सत्, निरपेक्षवाद व वेदान्तीय श्रेष्ठता सम्मत विचारों की पूर्व छाया ढूंढ़ी जा सकती है।[2] यद्यपि त्रिपाठी राधाकृष्णन् के शोधछात्र थे पर एक दृष्टि से देखा जाए तो उनके खुद के विचारों पर राधाकृष्णन् की तुलना में भट्टाचार्य का प्रभाव कहीं गहरा था। वस्तुतः अपने दौर के अन्य अध्येताओं रासबिहारी दास, टी.आर.वी. मूर्ति, जी.आर. मलकानी, डी.एम.दत्त, कालिदास भट्टाचार्य की ही तरह त्रिपाठी के दार्शनिक चिन्तन पर भट्टाचार्य का प्रभाव स्वाभाविक था। यहाँ ध्यातव्य है कि यद्यपि भट्टाचार्य स्वयं मात्र कुछ वर्षों के लिये ही (वर्ष 1933–35) इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी, आमलनेर में निदेशक थे पर आमलनेर से जुड़ने वाले हर आचार्यों के चिन्तन पर उनका जबर्दस्त प्रभाव था । त्रिपाठी भी वर्ष 1943–44 के दौरान वहाँ सीनियर फेलो रहे। आमलनेर के ब्याज से त्रिपाठी भट्टाचार्य से जुड़े, भट्टाचार्य से यह जुड़ाव पश्चात् टी. आर.वी. मूर्ति के सम्पर्क में आने से और परिपक्व हुआ । हम आगे यह देखने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार टी.आर.वी. मूर्ति, रमाकान्त त्रिपाठी और दूसरे आचार्यों ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चिन्तन को न केवल पोषित व पुष्पित किया अपितु इसको नया–नया विस्तार दिया ।

डेवलपमेण्ट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी फ्रॉम 18जी सेन्चुरी आनवर्ड्स : क्लासिकल एण्ड वेस्टर्न में दयाकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के समकालीन मलकानी, रासबिहारी दास, टी.आर.वी. मूर्ति और डी.एम.दत्ता कृष्णचन्द्र के प्रभाव की स्पष्ट चर्चा करते हैं, पर वे उनके चिन्तन को आगे नहीं बढ़ाते हैं।[3] यह कालिदास भट्टाचार्य ही हैं जो उनके दर्शन को आगे बढ़ाते हैं। अब यह बात आंशिक रूप से ही सही हो सकती है क्योंकि पूरी की पूरी बी.एच.यू. परम्परा कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के प्रभाव से अनुप्राणित है, उनके दर्शन को आगे बढ़ाती है। मूर्ति 1929–1936 तक आमलनेर में रहे और इस अवधि में उन्हें भट्टाचार्य का निर्देशन और प्रशिक्षण प्राप्त हुआ जैसा कि कोवर्ड कहते हैं, वह भट्टाचार्य के इस प्रभाव को अनेकशः स्वीकार करते हैं।[4] कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के चिन्तन का उत्कर्ष उनके 'वैकल्पिक परम' की अवधारणा में पाया जाता है जो कि उनके विभिन्न लेखों और विशेषकर 'द कन्शेप्ट ऑफ फिलॉसफी तथा 'द कन्शेप्ट ऑफ द एवसोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फॉर्म्स' में मुखरतया व्यक्त होती है।[5] भट्टाचार्य 'परम निरपेक्ष' के वैकल्पिक रूपों की तथा वैकल्पिक निरपेक्षवाद की बात करते हैं। भट्टाचार्य के अनुसार जहाँ वेदान्त दर्शन का निरपेक्ष ज्ञानात्मक निरपेक्ष है जिसमें 'सत्य' को परम निरपेक्ष माना गया है वहीं शून्यवादी बौद्धों का दर्शन संकल्पपरक निरपेक्ष की बात करता है जिसमें 'स्वतंत्रता' को परम निरपेक्ष माना गया है। दूसरी ओर हेगेलीय दर्शन चेतना के भावनात्मक पहलू पर जोर देते हुए भावात्मक परम अर्थात् 'मूल्य' की बात करता है। मूर्ति अपनी रचनाओं में 'वैकल्पिक निरपेक्ष' की इस अवधारणा का और विकास करते हैं। वे अपने लेख "नोईंग, विलिंग एण्ड फीलिंग एज फन्क्शन्स ऑफ कॉन्शसनेस" में चेतना के विविध आयामों ज्ञान, संकल्प व भावना के विभिन्न निरपेक्षों की संभावित रूपरेखा रखते हैं।[6] मूर्ति के लेख को भट्टाचार्य के 'एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फॉर्म्स' के विस्तार के रूप में ही देखना उपयुक्त होगा । मूर्ति न केवल 'निरपेक्ष के विभिन्न प्ररूपों' के चिन्तन को विस्तार देते हैं अपितु उसे दर्शन के इतिहास में अभिव्यक्त पाते हैं। ऐसा प्रदर्शित होता है मानो दर्शन का इतिहास भट्टाचार्य के 'मॉडल' के अनुरूप बढ़ता हो। मूर्ति अपनी पुस्तक 'सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म' में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

माध्यमिक शून्यता को निरपेक्षवादी दर्शन बताते हुए उसे वेदान्त आदि के निरपेक्षवादी चिन्तन से गुणात्मक रूप से भिन्न बताते हैं।[7] इसी पुस्तक में वह निरपेक्षवाद के अन्य दूसरे प्ररूपों की चर्चा करते हैं। बाद में उनके सहयोगी और शिष्य उनके इस चितन को बढ़ाते हुए वेदान्त, योगाचार, काश्मीर शैव दर्शन और भर्तृहरि के व्याकरण दर्शन में निरपेक्षवाद के विभिन्न प्ररूपों को स्पष्ट करते हैं। वास्तव में मूर्ति से लेकर ए.के. चटर्जी तक या कहिये लक्ष्मीनिधि शर्मा और कमलाकर मिश्र तक हम यही देख सकते हैं कि ये आचार्य शून्यवाद, विज्ञानवाद, काश्मीर शैव दर्शन को निरपेक्षवाद के विभिन्न प्ररूपों में व्याख्यायित कर रहे होते हैं।[8] पर क्या निरपेक्षवादी दर्शन वस्तुतः अनेक ढंग के हो सकते हैं, क्या वस्तुतः निरपेक्ष अनेक ढंग का हो सकता है? त्रिपाठी अपनी रचनाओं में यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि निरपेक्षवादी दर्शन अन्ततः अपने उपयुक्त रूप में एक ही हो सकता है, अतः सही अर्थों में वेदान्त ही एकमाष पूर्ण निरपेक्षवादी दर्शन है। दूसरे निरपेक्षवादी दर्शन जब अपने को सुसंगत रूप में प्रस्तुत करते हैं, तो वे (छद्म) वेदान्त हो जाते हैं।

यदि मूर्ति का "नोईंग, विलिंग एण्ड फीलिंग एज फन्क्शन्स ऑफ कॉन्शसनेस" कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के 'दी एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फॉर्म्स' का विस्तार है तो उनका "इल्यूशन एज कनफ्यूजन ऑफ सब्जेक्टिव फन्क्शन्स" कृष्णचन्द्र के "द फाल्स एण्ड द सब्जेक्टिव" का विस्तार है जिसमें वे मिथ्यात्व की गंभीर अन्वीक्षा करते हुए यह बताते हैं कि मिथ्यात्व की चेतना वस्तुतः आत्मगत की चेतना है।[9] भ्रम का बोध व उसका निराकरण यह दर्शाता है कि यह सारी प्रक्रिया चेतना के आत्मानुसंधान की प्रक्रिया में घटित होती है। भट्टाचार्य की दृष्टि को आगे बढ़ाते हुए मूर्ति अपने लेख में कहते हैं कि चेतना के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावनात्मक पहलू आपस में मिलित रूप में ही उपलब्ध होते हैं जो स्वभावतः भ्रामिक अवस्था को पुष्ट करते हैं। इनको अलग–अलग निरूपित व निर्दिष्ट करना दर्शन की माँग है और यदि हम ऐसा करते हैं तो चेतना के विभिन्न पहलुओं के सन्दर्भ में 'निरपेक्ष' के विभिन्न सिद्धान्त उद्घाटित होंगे। अब जिस प्रकार चेतना के हर एक पहलू का अपना एक निरपेक्ष अलग होगा, वैसे ही हर पहलू का अपना भ्रम का सिद्धान्त होगा । शुद्ध संज्ञान की दृष्टि से भ्रम अलग होगा, संकल्प या क्रिया की दृष्टि से अलग तथा भावना दृष्टि से उसका स्वरूप अलग बनेगा। या हम ऐसे समझें कि चेतना के अलग–अलग पहलुओं की दृष्टि से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परम निरपेक्ष तथा उसकी भ्रामिक चेतना अलग–अलग होगी। भ्रम या अविद्या का जो स्वरूप 'नोईंग माडल' में बनेगा वह 'विलिंग माडल' से अलग होगा, इसी तरह 'फीलिंग मॉडल' में वह अलग प्रकार का ही बनेगा ।[10] देखा जाए तो भट्टाचार्य की रचनाओं में "द फाल्स एण्ड द सब्जेक्टिव" का एक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि इसमें जहाँ एक ओर भ्रामिक चेतना के उद्घाटन के क्रम में चेतना का आत्म–चेतनात्मक पक्ष उद्घाटित होता है, वहीं भ्रम की चेतना, उसका निराकरण, निषेध, समीक्षात्मक चेतना, दर्शन का अनुचिन्तनात्मक स्वरूप जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर भट्टाचार्य के मत का बीज भी उपलब्ध होता है। यही कारण है कि 'अज्ञान' नामक पुस्तक में संग्रहित मूर्ति, रासबिहारी दास और मलकानी की रचनाओं पर इसका स्पष्ट प्रभाव पाया जा सकता है।[11]

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन के मर्मज्ञ जार्ज बर्च के अनुसार भट्टाचार्य के दार्शनिक साधना की यात्रा में आरम्भ से लेकर अन्त तक जो एक लक्ष्य दिखता है वह है 'निरपेक्ष' को समझना, उसे परिभाषित करना। इस दृष्टि से उनकी दार्शनिक यात्रा के तीन चरण हैं। प्रथम चरण में वह उस 'परम निरपेक्ष' को निर्विशेष के रूप में परिभाषित करते हैं, दूसरे चरण में उसे आत्मा या विषयी के रूप में समझते हैं और तीसरे चरण में उसके विकल्पीकरण और वैकल्पिक निरपेक्ष की बात करते हैं ।[12] रमाकान्त त्रिपाठी जहाँ अपने विभिन्न लेखों में प्रथम दो चरणों में भट्टाचार्य जिन समस्याओं से जूझते रहे उससे जूझते हुए दिखायी पड़ते हैं तो ए.के. चटर्जी, कालिदास भट्टाचार्य मुख्यतया भट्टाचार्य के उन विचारों को आगे बढ़ाते हैं जो उनकी रचना यात्रा के तृतीय चरण से सम्बद्ध हैं। जहाँ तक मूर्ति की बात है तो वह भट्टाचार्य की सभी प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय चरण से सम्बद्ध दार्शनिक समस्याओं को समझने की कोशिश करते हैं। यद्यपि यहाँ ध्यातव्य है कि जार्ज बर्च मूर्ति को, जिन्हें वे भट्टाचार्य के दर्शन को समझने वाले उनके शिष्यों में अन्यतम बताते हैं, भट्टाचार्य के द्वितीय चरण के दार्शनिक विचारों को आगे बढ़ाने वाला बताते हैं जिसमें वे दर्शन का उद्भव मोहभंग में बताते हैं, इस अहसास और चेतना में कि संसार में कहीं न कहीं कुछ त्रुटि है।[13]

त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन' की भूमिका में और पुस्तक में संग्रहित विभिन्न लेखों में प्रस्तुत अपने विचारों का सार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उनके अनुसार दर्शन एक प्रकार का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आध्यात्मिक जागरण है जो सांसारिक जीवन की अस्सारता व रिक्तता के बोध से उत्पन्न होता है।[14] लौकिक या आनुभविक से मोहभंग वस्तुतः उससे मोहभंग है जिसे अभी तक अज्ञानवश निरपेक्ष तथा सत्य मान लिया गया था। अतः दार्शनिक चिन्ता मिथ्या—निरपेक्ष से मोहभंग तथा वास्तविक निरपेक्ष की समीक्षात्मक गवेषणा है। दर्शन इसलिए या तो इस आध्यात्मिक लक्ष्य में सहायक है अन्यथा यह पूर्णतया निरर्थक है। चूँकि परम निरपेक्ष या शाश्वत कोई उत्पन्न होने वाली चीज नहीं है इसलिए कर्म की कोई यहाँ साक्षात् भूमिका नहीं है, केवल ज्ञान ही हमें वहाँ तक पहुँचने में सक्षम कर सकता है। निरपेक्ष या परम शाश्वत का यह ज्ञान सामान्य स्रोतों व प्रमाणों से संभव नहीं है क्योंकि वे देश और काल की उपाधियों और सीमाओं से अनिवार्यतः बद्ध हैं। अनुभवातीत या शाश्वत के संदेश को केवल श्रुति या दैवी प्रकाशना के द्वारा सुना जा सकता है। अतः श्रुति दर्शन के लिए अनिवार्य है। बुद्धि स्वतंत्र रूप से हमें अनुभवातीत तक नहीं ले जा सकती, इसका कार्य मात्र यह है कि यह श्रुति के संदेश को सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करे तथा संभाव्य आपत्तियों व संदेहों का निराकरण कर उसका समर्थन करे। त्रिपाठी आगाह करते हैं कि श्रुति से तात्पर्य केवल किसी का कथन ही नहीं समझा जाना चाहिए । श्रुति वस्तुतः शाश्वत का शाश्वत संदेश है।

शाश्वत या अनुभवातीत यद्यपि सभी विचार से परे है और इसलिए अनिर्वचनीय है पर इससे वह अज्ञेय नहीं हो जाता। त्रिपाठी कहते हैं ऐसा दो कारणों से है, प्रथम यह कि शाश्वत शुद्धचैतन्य स्वरुप होने के कारण स्वयंप्रकाश है और दूसरा यह कि वह स्वयं हमारी आत्मा होने के कारण साक्षात् अपरोक्ष है। ब्रैडले और हेगेल में चूँकि प्रतीति निरपेक्ष की संरचक है अतः उनका निरपेक्ष सही तौर पर अनुभवातीत नहीं है। दूसरी ओर नागार्जुन का शून्य, भले ही वह असत् न हो,चूँकि उसे हमारी आत्मा से अभिन्न नहीं बताया गया है, अतः वह इतना अनुभवातीत हो जाता है कि उसका साक्षात्कार असंभव है। वेदान्त का निरपेक्ष ही सही अर्थों में निरपेक्ष है क्योंकि वह एक साथ अन्तर्यामी भी है और पर भी।[15]

अद्वैत का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि जब तक नानात्व व परिवर्तन के इस जगत् को मिथ्या नहीं समझ लिया जाता है, मिथ्यात्व का बोध नहीं हो जाता है तब तक मुक्ति संभव नहीं है, कम से कम ज्ञान से मुक्ति संभव नहीं होगी । ज्ञान केवल अज्ञान या अज्ञान सृष्ट मिथ्या का तिरोधान कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है और किसी का नहीं। अतः अद्वैत की विधि भ्रम के निराकरण की विधि है, नेति–नेति की विधि है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की ही तरह त्रिपाठी का मानना है कि निरपेक्ष तक निषेध के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है। षिपाठी कहते हैं कि अद्वैत की विधि न तो बुद्धिवादियों की शुद्ध प्रागनुभविक परिकल्पना की विधि है, न ही यह ब्रैडले और नागार्जुन की द्वन्द्वन्याय की विधि है, न ही न्याय–वैशेषिक की सामान्य बुद्धि या इन्द्रियानुभव की विधि है। अद्वैत श्रुति के आलोक में अनुभव की गहन समीक्षा है। यह अनुभव में जो भ्रामिक है, सीमित है उसके नकार से जो निरूपाधिक है, असीम है उसकी खोज है। अतः भ्रम की मीमांसा आवश्यक है, निषेध के स्वरूप का उद्घाटन अनिवार्य है। दर्शन सही अर्थों में अध्यास–भाष्य है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है और जैसा हम आगे देखेंगे रमाकान्त त्रिपाठी अपने लेखों में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और टी.आर.वी. मूर्ति की अन्तर्दृष्टियों को और आगे बढ़ाते हैं। त्रिपाठी अपने पूर्ववर्तियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनकी अद्वैत के प्रति निष्ठा उनसे अधिक बलवती है। कृष्णचन्द्र और मूर्ति की अन्तर्दृष्टियों का लाभ लेते हुए तथा उनकी पद्धति का विनियोग करते हुए त्रिपाठी यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि दर्शन की सही पद्धति अद्वैत की पद्धति है और कि दर्शन का यदि युक्तिसंगत अनुशीलन हो तो हम अद्वैत तक ही पहुँचेंगे। आगे के पृष्ठों में हम रमाकान्त त्रिपाठी की अद्वैतपरक दार्शनिक साधना को समझने का प्रयास करेंगे। प्रारम्भ में त्रिपाठी के दर्शन, दार्शनिक चेतना, तत्त्वमीमांसा, दार्शनिक विधि, निषेध आदि से सम्बन्धित विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा और पश्चात् अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, निरुपाधिक, निरपेक्ष, निरपेक्षवाद, संवृति और परमार्थ जैसे विषयों पर अभिव्यक्त उनके विचारों को समझने की चेष्टा की जाएगी।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की ही तरह रमाकान्त त्रिपाठी के लिये भी मूलभूत दार्शनिक अनुसन्धान स्वयं दर्शन के स्वरूप का अनुसन्धान है। भट्टाचार्य की ही तरह प्रो. त्रिपाठी भी दार्शनिक व्यापार को आत्मचेतना से युक्त व्यापार पाते हैं। 'दर्शन', 'दार्शनिक पद्धति', 'तत्त्वमीमांसा', 'निषेध' जैसे विषयों पर केन्द्रित अपने विभिन्न लेखों में त्रिपाठी दार्शनिक चेतना की व्यावर्तक विशेषता उसके अनुन्तिनात्मक स्वरूप में पाते हैं। हमारी सामान्य चेतना विषयोन्मुखी चेतना होती है, जगत् में व्याप्त और जगन्मुखी चेतना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होती है, जब चेतना विषयों के बजाए स्वयं अपनी ओर उन्मुख होती है– स्वयं को विषय बनाती है तो वह अनुचिन्तनात्मक हो जाती है, विमर्शात्मक हो जाती है। दार्शनिक चेतना इसी तरह की चेतना होती है। हम कह सकते हैं कि विषयपरक या वस्तुपरक चेतना का विमर्शात्मक बोध ही दार्शनिक विमर्श है। वस्तुपक चेतना का स्वचेतन होना ही दार्शनिक चेतना है। आत्मचैतन्य होना ही दार्शनिकता है। विज्ञान, धर्म, कला, नीति, कविता, इतिहास, विधि ये सब के सब विषयगत चेतना के विभिन्न रूप हैं और ये सब जब स्वचेतन हो जाते हैं, आत्मचेतन हो जाते हैं, स्वयं अपने पर विमर्श करते हैं तो हमारे सामने विज्ञानदर्शन, धर्मदर्शन, कलादर्शन, नीतिदर्शन जैसे दर्शनों का क्षितिज प्रकट होता है।[16]

यद्यपि विमर्शात्मक चेतना एक तथ्य है, फिर भी यह सामान्य तथ्य या घटना नहीं है। यह कभी–कभी और किसी–किसी के साथ घटित होती है। यह कभी–कभी प्रकट होने वाली चेतना है। इसका कारण यह है कि अनुचिन्तन या विमर्श वस्तुतः विषय–चेतना का स्थगन है; और विषय–चैतन्य का स्थगन वस्तुतः सामान्य दैनिक व्यवहार का स्थगन है। त्रिपाठी कहते हैं कि इस स्थगन या विकर्षण का भाव परस्पर है क्योंकि जब तक व्यवहार है तब तक परमार्थ नहीं है और जब परमार्थ की चेतना उत्पन्न होती है तब व्यवहार का कोई स्थान नहीं रह पाता ।

त्रिपाठी प्रश्न उठाते हैं कि वह क्या है जो चेतना को विषयाभिमुखी स्वभाव से स्वयं अपनी ओर उन्मुख करती है, वह क्या है जो उसे प्रत्यङ्मुखी होने को विवश करती है। त्रिपाठी इस सन्दर्भ में शुद्ध जिज्ञासा या आश्चर्य के भाव की चर्चा करते हैं जिसे पश्चिम में सामान्यतः दर्शन का उत्स माना जाता है। पर त्रिपाठी का कहना है कि सामान्य विषयानुमुखी चेतना से प्रत्यङ्मुखता की ओर अग्रसर होने का अवसर तब तक नहीं उत्पन्न होता है जब तक विषयजगत् से एक अलगाव न हो, एक प्रकार से उसके प्रति भरोसा जब तक न डिगे, उसकी सत्यता में संदेह या असन्तुष्टि न उत्पन्न हो, उसके प्रति व्यामोह न उचटे तब तक दार्शनिक जिज्ञासा या तत्त्वमीमांसा का उदय नहीं होता है। त्रिपाठी कहते हैं कि चाहे जैसा भी दर्शन हो– परिकल्पनात्मक रूढ़िवादी चिन्तन या प्रत्यक्षवाद, संदेहवाद या विश्लेषणात्मक, भौतिकवाद या विज्ञानवाद– वास्तव में ये सब के सब दर्शन मूल में किसी धारणा के भ्रान्त होने की चेतना हैं, विश्वास के असत्य होने की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चेतना हैं। अतः दर्शन एक तरह से त्रुटि और उसके सुधार की चेतना है, भ्रम और उससे उबरने की चेतना है। दार्शनिक चेतना इस ढंग की अनुचिन्तना या विमर्श है। इस विशेष अर्थ में ही दर्शन को आत्म–चेतना समझनी चाहिए। वस्तुतः यह बाध की चेतना है जो चेतना को आत्मचेतन बनाती है, स्वयं की ओर उन्मुख करती है, यह मानो पत्थर से टकराना और फिर पीछे देखना है। जब प्लेटो संभूति से सत् की ओर मुड़ता है तो वह उसके बाधित या भ्रान्त होने की चेतना है, जब संदेहवादी सब चीजों पर संदेह का प्रस्ताव करता है तो वह एक तरह से त्रुटिसुधार कर रहा होता है, कुछ इन्हीं कारणों से प्रत्यक्षवादी तत्त्वमीमांसा को मिथ्या–विज्ञान बताते हैं तथा विज्ञानवादी व वस्तुवादी परस्पर एक दूसरे का खण्डन करते हैं। इसी तरह काण्ट व नागार्जुन जैसे द्वन्द्वनैयायिक तथा स्पिनोजा व लाइब्नित्ज जैसे परिकल्पनात्मक चिन्तन के पुरोधा– ये सब के सब किसी न किसी भ्रान्त–विश्वास से अपने को मुक्त कर रहे होते हैं। वस्तुतः सारा का सारा दर्शन बाध की चेतना से उत्पन्न विमर्श है।

दर्शन, त्रिपाठी के अनुसार, बाध या त्रुटिसुधार की चेतना से जन्य विमर्श है। दार्शनिक चेतना एक प्रकार का पुनर्मूल्यांकन है जो अनुभव के द्विविध स्तर को आपादित करता है। एक सामान्य अनुभव या चेतना का स्तर दूसरा उसके विमर्श का स्तर, एक मिथ्यात्व का स्तर दूसरा सत्य का स्तर, एक निषेधित होने वाली चेतना या वस्तु का स्तर दूसरा निषेध करने वाली चेतना का स्तर । अस्तु, हम समझ सकते हैं कि त्रिपाठी के अनुसार दार्शनिक चेतना एक अनुचिन्तनात्मक चेतना है, यह विमर्श है, समीक्षा है, निषेध है! तत्त्वमीमांसा की प्रक्रिया निषेध की है, बाध की है। इसी निषेधीकरण के द्वारा तत्त्वमीमांसा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करती है। तत्त्वमीमांसा का उद्देश्य निरपेक्ष या निरुपाधिक की अवाप्ति है, उसकी समझ, साक्षात्कार या बोध है। अब इस निरूपाधिक तक बिना निषेध या नकार के नहीं पहुँचा जा सकता है।[17] त्रिपाठी का कहना है कि बिना प्रतीति के निषेध के परमार्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता है, बिना सोपाधिक के निषेध के निरूपाधिक तक पहुँचना असम्भव है। दर्शन का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि हर दर्शनों ने निरूपाधिक तक पहुँचने के लिए प्रतीति या सोपाधिक के निषेध का मार्ग अपनाया। काण्ट सारे आनुभविक ज्ञान का, उस ज्ञान का जो बुद्धि व संवेदन के आकारों के माध्यम से होता है, निषेध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है। माध्यमिक सारे विचारों को, दृष्टियों को विरोधों से भरा होने के कारण नकारता है। त्रिपाठी इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दार्शनिकों के लिए गवेष्य परम सत्य या निरूपाधिक के सम्यक् स्वरूपावधान के लिए दर्शन में निषेध की भूमिका को समझना आवश्यक है। दार्शनिक चेतना का उद्भव अर्थात् सत्य की जबर्दस्त जिज्ञासा या खोज इस बात को अनुलग्न करती है कि जो हम जानते हैं, अनुभव से हमें जो प्राप्त हो रहा है, वह सत्य नहीं है। बिना अनुभव, आनुभविक या व्यवहार के निषेध के दार्शनिक चेतना का उद्भव ही संभव नहीं है। त्रिपाठी इस अर्थ में प्रत्यक्षवादियों से सहमति व्यक्त करते हैं कि दर्शन हमारे जागतिक ज्ञान की सीमा में कोई वृद्धि नहीं करता है। बल्कि त्रिपाठी का तो कहना यह है कि दर्शन हमारे व्यावहारिक ज्ञान की सीमा में वृद्धि के बजाय उसके निषेध पर ही आधारित है, यह उसी से आरम्भ होता है। त्रिपाठी कहते हैं कि यदि दर्शन आनुभविक ज्ञान का निषेध न करे तो फिर उसके होने का भला क्या औचित्य? अतः या तो दर्शन अर्थहीन है क्योंकि इससे किसी आनुभविक या व्यावहारिक लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती या फिर इसका कोई अत्यानुभविक लक्ष्य होना चाहिए। त्रिपाठी दूसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि दर्शन का अत्यानुभविक लक्ष्य है तथा इसकी ओर तभी बढ़ा जा सकता है जब आनुभविक का निषेध हो। दर्शन वस्तुतः निषेध है। त्रिपाठी तो कहते हैं कि प्रत्यक्षवादी भी देखा जाए तो निषेध करते हैं, वे अत्यानुभविक / अनुभवातीत का निषेध करते हैं। पर पूछा जा सकता है कि प्रत्यक्षवादियों को अनुभवातीत का संप्रत्यय कैसे प्राप्त होता है। यह तो बिना आनुभविक के निषेध के (भले ही वैचारिक स्तर पर) प्राप्त नहीं हो सकता । या तो आनुभविक पर प्रश्न ही नहीं उठाया जाता या फिर उसका पुनर्मण्डन होता है, त्रिपाठी कहते हैं कि प्रथम स्थिति अनुचिन्तनहीन पशु की स्थिति है जबकि दूसरी स्थिति प्रत्यक्षवादियों की। पर दोनों ही देखा जाए तो आनुभविक को ही निरपेक्ष रूप में सत्य मानते हैं। अतः निरपेक्ष से कोई छुटकारा नहीं, हमें उसे स्वीकार करना ही होगा। हाँ, यह बात अलग है कि हम आनुभविक को ही निरपेक्ष मान लें या वास्तविक निरपेक्ष की तलाश में आगे बढ़ें। चूँकि आनुभविक विरोधों से, सापेक्षताओं से, उपाधियों से भरा पड़ा है अतः उसे निरूपाधिक या निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। अतः हमें आनुभविक का निषेध करना ही होगा। तभी तत्त्वमीमांसा संभव होगी। जो आनुभाविक से चिपके रहना चाहते हैं उन्हें इस तत्त्वमीमांसा का ही निषेध करना होगा ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्रिपाठी के लिए दार्शनिक विमर्श का अर्थ तात्त्विक विमर्श है। दर्शन व तत्त्वमीमांसा के परम्परागत इतिहास की गंभीर मीमांसा प्रस्तुत करते हुए त्रिपाठी तत्त्वमीमांसा को दर्शन के लिए अपरिहार्य बताते हैं। इस प्रसंग में जहाँ एक ओर वे तत्त्वमीमांसा के निरसन के किसी तरह के प्रस्ताव को सिरे से खारिज करते हैं वहीं दूसरी ओर शुद्ध बुद्धि–प्रसूत किसी तरह के परिकल्पनात्मक तत्त्वचिन्तन को व विकल्प रूप में प्रस्तावित वर्णनात्मक तत्त्वमीमांसा को पूर्ण रूप से अस्वीकार्य पाते हैं। दर्शन मूल में तत्त्वमीमांसा है जिसका सम्बन्ध अनुभवातीत निरपेक्ष तत्त्व से हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि निरपेक्ष (Absolute) ही तत्त्वमीमांसा का मुख्य विषय है। एक तरफ निरपेक्ष को नकारना दूसरी तरफ तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करना व्याघात है। यहाँ ध्यातव्य है कि अनुभववादी या प्रत्यक्षवादी किसी प्रकार के 'निरपेक्ष' को स्वीकार करना नहीं चाहते हैं। क्योंकि उसका कहीं अनुभव नहीं होता है। पर त्रिपाठी का कहना है कि आनुभविक ज्ञान और तत्त्वमीमांसा दो अलग–अलग चीजें हैं। तत्त्वमीमांसा न तो आनुभविक ज्ञान का विस्तार है, न ही यह आनुभविक वस्तुओं का 'और अधिक ज्ञान' है, और न ही यह 'और अधिक वस्तुओं' का आनुभविक ज्ञान है।[18] त्रिपाठी का मानना है कि तत्त्वमीमांसा हमारे सामान्य आनुभविक ज्ञान से मोहभंग है, उसका नकार है, तिरस्कार है क्योंकि तत्त्वमीमांसीय जिज्ञासा तभी उत्पन्न होती है जब हम अपने सामान्य आनुभविक ज्ञान की निरपेक्षता के प्रति सन्दिग्ध होते हैं, जब व्यवहार ही परमार्थ है, निरपेक्ष है इस व्यामोह से निकलते हैं। जब तक हम व्यवहार में रहते हैं तब तक तत्त्वमीमांसा के लिए कोई जगह नहीं है। जब हम उसके प्रति सन्दिग्ध होते हैं तब हम उससे परे–उसके आधार–उसके मूल को देखने की चेष्टा करते हैं, और फलतः तत्त्वमीमांसा का उद्‌भव होता है और फिर तो यही जिज्ञासा एकमात्र सच्ची जिज्ञासा लगती है, यह हमारे जीवन–मरण का प्रश्न बन जाता है। वास्तव में आनुभविक से इस मोहभंग में ही तत्त्वमीमांसा का उत्स है। अतः देखा जाए तो तत्त्वमीमांसा किसी अन्य दूसरी सत्ता, ब्रह्म या परम निरपेक्ष की खोज नहीं है अपितु जो पहले से ही निरपेक्ष सत् के रूप में माना जा रहा है उसकी विवक्षा है। तत्त्वमीमांसा के परम निरपेक्ष तत्त्व का आनुभविक या व्यवहार से सम्बन्ध दो सत्ताओं या दो प्रकार की सत्ताओं का सम्बन्ध नहीं होकर सत्य और मिथ्या का या सही और गलत का है। इसीलिए इन दोनों को– अर्थात् आनुभविक को और तत्त्वमीमांसा को–एक साथ नहीं स्वीकार किया जा सकता है। एक को दूसरे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के लिए जगह देना ही होगा, इनमें कोई सहावस्थिति, तुलना, प्रतिस्पर्धा सम्भव नहीं है। तत्त्वमीमांसा आनुभविक का अतिक्रमण है। इसी कारण कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमांसा कोई भावात्मक या विधिपरक संरचना न होकर अनिवार्यतः एक निषेध या नकार है जो मूलयांकन व अतिक्रमण को दर्शाता है। साथ ही इससे यह बात निकलती है कि यदि आनुभविक (Empirical) ने निरपेक्षता का दावा ही नहीं किया होता तो फिर उसके नकार की बात उठती ही क्यों ? अगर वह हमारे जीवन का आधार ही नहीं बन गया होता तो फिर उसके नकार से संकट क्यों पैदा होता ? अतः निरपेक्ष की तलाश अस्तित्व की समस्या हो जाती है, जीवन के अर्थ की समस्या होती है। वास्तव में निरपेक्ष की तलाश का न तो कोई आनुभविक और न तो प्रागनुभविक आधार है। यह हमारी नियति से जुड़ा प्रश्न है।

त्रिपाठी का मानना है कि तात्त्विक जिज्ञासा से पूर्व भी 'परम निरपेक्ष' अज्ञात और अज्ञेय नहीं है, हम इससे पूर्व से ही संयुक्त होते हैं। चाहे अज्ञेयवादी हों या संदेहवादी अथवा प्रत्यक्षवादी, ये सब के सब 'कुछ ऐसा' स्वीकार करते हैं जो उनके लिए निरपेक्ष होता है, अटल होता है। जब तक हम उस परम निरपेक्ष तक नहीं पहुँच जाते हैं, तब तक 'कुछ और को ही', 'किसी और को ही' वैसा मान लिया जाता है। आखिर जीवन को तो खाली रखा नहीं जा सकता, उसे तत्त्वविहीन तो किया नहीं जा सकता। अतः तत्त्वमीमांसा वस्तुतःनिषेध या नकार की वह (लम्बी) प्रक्रिया है जो तब तक चलती रहती है जब तक उस तत्त्व तक नहीं पहुँच जाते हैं जिसका नकार संभव ही नहीं है। परमनिरपेक्ष को किसी ज्ञेय वस्तु की तरह नहीं जाना जा सकता है और न ही विषयगत अभिवृत्ति में रहे हुए जाना जा सकता है क्योंकि यह सभी द्वैत व सम्बन्धों से परे होता है। दूसरे परम निरपेक्ष यदि परम निरपेक्ष है तो फिर भला इसे कोई अन्य कैसे प्रकाशित कर सकता है, इसे स्वयंप्रकाश मानना ही होगा। अतः परमनिरपेक्ष तो स्वयं प्रकाश है, फलतः उसके ज्ञान की समस्या नहीं है, बल्कि जो सापेक्ष है, द्वैत है, नानात्व है उसको सही समझने की समस्या है, उसको सत्य से असत्य के स्तर पर उठाना होगा। आनुभविक के, नानात्व के, सापेक्ष के नकार के बाद वस्तुतः कुछ करना शेष ही नहीं रहता। त्रिपाठी कहते हैं कि समस्या इसलिए निरपेक्ष के ज्ञान की न होकर सापेक्ष के निरास की है।

त्रिपाठी का मानना है कि दर्शन या तत्त्वमीमांसा तत्त्व की खोज से अधिक अतत्त्व का निराकण है। इस दृष्टि से देखा जाए तो त्रिपाठी को इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बात का श्रेय जाता है कि वे सत्य से अधिक मिथ्यात्व या मृषात्व के बोध में दर्शन की विशेषता पाते हैं । तत्त्व या सत्य पर दार्शनिकों का आग्रह आरम्भ से ही प्राप्त होता है पर त्रिपाठी का मानना है कि दार्शनिक चर्चा का उत्स मिथ्यात्व के बोध से ही होता है। दर्शन वस्तुतः निषेधीकरण, मिथ्याकरण या अपलाप है।[19] उसकी पद्धति अपवाद की है– नेति–नेति की है, बाध की है। अब यह बाध या निषेध दो तरह का हो सकता है। निषेध या बाध का एक ढंग ऐसा हो सकता है जिसमें हम एक विश्वास या धारणा को खारिज कर दूसरे विश्वास या धारणा को स्वीकार करते हैं। दार्शनिक विमर्श के इस स्तर को त्रिपाठी 'प्रतिबन्धित विमर्श' या 'सीमित विमर्श' का स्तर बताते हैं जहाँ हम एक धारणा या विश्वास का तो निषेध करते हैं पर किसी दूसरे धारणा या विश्वास से चिपक जाते हैं। यह एक मत या सिद्धान्त को नकार कर दूसरे मत या सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना होता है। पूर्ण विमर्श या शुद्ध विमर्श अलग ही ढंग का होता है। यहाँ धारणा विशेष का निषेध धारणा मात्र के निषेध में पयर्यवसित होता है।[20] हमारी धारणाओं–विश्वासों की असत्यता हमें इस नतीज़े पर पहुँचाती है कि धारणा मात्र–विश्वास मात्र मिथ्या हैं। यह विचारों व विश्वासों के जगत् का सम्पूर्ण मिथ्यात्व है। माध्यमिक इसी को सर्वदृष्टिशून्यता या सर्वशून्यता कहते हैं। त्रिपाठी कहते हैं कि दर्शन सही अर्थों में ऐसा ही शुद्ध विमर्श या द्वन्द्वन्याय है।

प्रश्न है दर्शन यदि निषेध है तो इस निषेध का पर्यवसान कहाँ होता है ? क्या निषेध और केवल निषेध, अतिक्रमण और केवल अतिक्रमण ही सत्य है ? क्या असद् इव प्रतिभाति– यही सच्चाई है, शून्यता ही अंतिम सत्य है ? क्या माध्यमिक का शून्यवाद ही दर्शन का सही प्रारूप है ? त्रिपाठी अपने लेखों में इन प्रश्नों की गंभीर मीमांसा प्रस्तुत करते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अद्वैत प्रोक्त 'नेति–नेति' की पद्धति माध्यमिक सम्मत शून्यता से अधिक परिपक्व, सुसंगत और श्रेष्ठ है। इस सन्दर्भ में त्रिपाठी माध्यमिक सम्मत आत्यन्तिक निषेध या सर्वव्यापी निषेध की अवधारणा को सिरे से खारिज करते हैं। उनके अनुसार हर निषेध एक स्वीकृति की पूर्वापेक्षा रखता है। अतः माध्यमिक का भी निषेध वस्तुतः आत्यन्तिक नहीं है। टी.आर.वी. मूर्ति की ही तरह त्रिपाठी भी यह मानते हैं कि माध्यमिकों का शून्य असत् नहीं है। शून्यवाद प्रसज्यप्रतिषेधवाद नहीं है अतः इसे नास्तिवाद के रूप में समझने की जरूरत नहीं है। त्रिपाठी मूर्ति से सहमत हैं कि माध्यमिक तत्त्व सम्बन्धी मत का निषेध करता है न कि तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का निषेध करता है। माध्यमिक का शून्य 'अनुभवातीत' है, 'पर' है। यह विचारों से परे और शब्दों से अवाच्य है। यह परम निरपेक्ष है। हम देख सकते हैं कि त्रिपाठी को शून्यवाद की निरपेक्षवादी व्याख्या से कोई शिकायत नहीं है, उनकी शिकायत मात्र इतनी है कि माध्यमिक का निरपेक्षवाद एकांगी है। यह तत्त्व की अतिक्रामिता और अनुभवातीतता पर तो बल देता है पर उसके अन्तर्यामित्व की अवहेलना कर देता है। निरपेक्ष का निरपेक्षत्व उसके परत्व में ही निहित नहीं है उसके लिये सर्वान्तर्यामित्व व सर्वाधिष्ठानत्व भी उतना ही अपेक्षित है। वेदान्त की माध्यमिक पर यहीं श्रेष्ठता है। यह इनकी व्याख्या अधिक अच्छे ढंग से करने में समर्थ होता है।

त्रिपाठी अपने लेख 'निगेशन' में निषेध की गंभीर मीमांसा प्रस्तुत करते हैं।[21] उनके अनुसार जैसा कि हम देख चुके हैं दर्शन का उत्स ही निषेध या नकार से आरम्भ होता है। जाहिर है निषेध की चेतना विधान की अपेक्षा अधिक उच्चस्तरीय और समीक्षक होती है। जिस चीज का निषेध होता है वह कोई वस्तु या पदार्थ नहीं होता है। वास्तव में वस्तु का निषेध तो संभव ही नहीं है, वह भी ज्ञान से तो कतई संभव नहीं है। अतः जिस चीज का निषेध होता है वह विश्वास, धारणा या मानसिक स्थिति होती है। अर्थात् निषेध वस्तुतः चेतना का ही चेतना द्वारा होता है। निषेध करने वाली चेतना निषेधित होने वाली चेतना से उच्च स्तर की होती है। हम समझ सकते हैं कि निषेधित होने वाली चेतना मिथ्या होती है और निषेध करने वाली चेतना सत्य । त्रिपाठी का मानना है कि हर निषेध विधान की पूर्वापेक्षा रखता है। विधान निषेध की इस तरह की पूर्वापेक्षा नहीं रहती है। अर्थात् निषेध हमेशा किसी पूर्व विधान, चाहे वह वास्तविक हो या कल्पित, का होता है। त्रिपाठी इस सन्दर्भ में आकाश–कुसुम का उदाहरण देते हैं। आकाश– कुसुम का इसलिए निषेध नहीं होता है कि हमारा इसमें विश्वास नहीं होता है, हम इसे स्वीकार नहीं करते। चूँकि इसका विधान नहीं होता है, अतः इसका निषेध नहीं होता है।

त्रिपाठी अपने लेख में सर्वव्यापी निषेध या प्रसज्यप्रतिषेधात्मक निषेध की संभावना पर भी विचार करते हैं जिसका समर्थक माध्यमिक है। त्रिपाठी का कहना है कि सर्वव्यापी निषेध को लेकर बौद्धों के दो मत हैं, जहाँ आभिधर्म व विज्ञानवादी इसकी संभावना को नकारते हैं वहीं माध्यमिक सर्वव्यापी निषेध की बात करता है। माध्यमिक का विचार है कि किसी दृष्टि या मत की अस्वीकृति या निषेध का अर्थ किसी अन्य मत या दृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार नहीं है। एक मत अन्य मत के अधार पर अस्वीकार्य होता है, ऐसी बात नहीं है अपितु आत्म–विरोध या असंगति के कारण वह अस्वीकृत होता है। और चूँकि यह सिद्ध करना संभव है कि सारे मत असंगत व विरोधी हैं अतः सारे मतों या दृष्टियों का निरपवाद रूप में, बिना किसी मत को स्वीकार किये हुए निषेध संभव है। दूसरे शब्दों में, सारे मतों का खण्डन या निषेध स्वयं एक मत नहीं है क्योंकि तब यह सब का खण्डन नहीं होगा। वस्तुवादी बौद्ध (आभिधार्मिक) और विज्ञानवादी माध्यमिकों के इस सिद्धान्त से असहमत हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार का मत नास्तिवाद की ओर ले जाता है। दूसरी ओर माध्यमिकों का कहना है कि यह नास्तिवाद नहीं है क्योंकि वे सत्य को नहीं नकारते हैं, वे केवल सत्य सम्बन्धि दृष्टियों–मतों को ही नकारते हैं। हमें सत्य को सत्य सम्बन्धी दृष्टियों से अलग करना होगा। सत्य सभी दृष्टियों से परे, अदृष्ट और अवाच्य है। माध्यमिक का मत सत्ता का निषेध न हो कर सत्ता सम्बन्धी दृष्टियों या मतों का निषेध है। शून्य निरा अभाव न हो कर दृष्टियों से रहित होना है। मूर्ति के मत को आगे बढ़ाते हुए त्रिपाठी कहते हैं कि सत्ता विचारों का इस हद तक अतिक्रमण करती है कि सारे विचार, मत शून्य हो जाते हैं। अतः माध्यमिक नास्तिवाद नहीं है। समस्त मतों का निषेध– नास्तिवाद का भी निषेध– वस्तुतः तत्त्व की अतिक्रामिता और विश्वातीतता पर बल देने के लिये है। त्रिपाठी सहमत हैं कि माध्यमिक नास्तिवाद नहीं बल्कि निरपेक्षवाद है। पर यदि ऐसा है तो फिर उसका निषेध सर्वव्यापी नहीं रह जाता क्योंकि इस निषेध में भी कुछ शेष रह जाता है अर्थात् तत्त्व शेष रह जाता है।

त्रिपाठी की माध्यमिक से मुख्य शिकायत यह है कि जब अनुभव में कुछ भी ऐसा नहीं हो, जिसका तत्त्व से संस्पर्श हो, सम्पर्क हो, जब अनुभव में कोई आधार ही नहीं हो, तब माध्यमिक भला किस आधार पर कह सकता है कि सारी दृष्टियों का निषेध तत्त्व या प्रज्ञा में पर्यवसित होता है। माध्यमिक को इस बात की गारण्टी कहाँ से प्राप्त होती है ? माध्यमिक मत में तत्त्वज्ञान से नाना मतों का मिथ्यात्व फलित नहीं होता है, बल्कि यहाँ स्थिति दूसरी है। यहाँ मतों का मिथ्यात्व तत्त्वज्ञान में पर्यवसित होता है। पर त्रिपाठी प्रश्न उठाते हैं कि इस बात में क्या निश्चितता ? यह प्रश्न इसलिये भी और महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि माध्यमिक किसी तर्केतर स्रोत को, श्रुति को आधार नहीं बनाता है। अब यदि ऐसा है तो फिर द्वन्द्वन्याय स्वयं में किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरपेक्ष तत्त्व के लिये कैसे आश्वस्त कर सकता है ? त्रिपाठी अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वास्तव में माध्यमिक दो तरह की अतियों का शिकार हो जाता है– एक यह तर्क पर कुछ अत्यधिक ही आग्रह करता है, दूसरा तत्त्व की निरपेक्षता पर भी इसका आग्रह अति से बढ़कर है। तर्क(शास्त्र) दृष्टियों, मतों, सिद्धान्तों का विश्लेषण कर सकता है, उनकी असंगति–अतार्किकता को प्रदर्शित कर सकता है, पर वह सत्य और असत्य को नहीं बता सकता है। तर्कशास्त्र स्वरूपतः इतना आकारिक होता है कि वस्तुतथ्य या सत्यासत्य को अनावृत करने में उसकी गति नहीं होती। वस्तुतः यह काम अनुभव का है, अनुभव यह बताता है कि क्या सत्य और क्या असत्य। इसी प्रकार परमसत् के निरपेक्षत्व, परत्व पर आग्रह तो उचित है, पर माध्यमिक इस पर इतना अधिक बल दे देता है कि वह हमारे लिये पूरी तरह से अप्रसिद्ध, अज्ञेय और अलीक जैसा हो जाता है। तत्त्व तत्त्व है केवल इसिलये नहीं कि वह पर है, निर्विशिष्ट है, बल्कि तत्त्व इसलिये तत्त्व है कि वह अन्तर्यामी भी है। निरपेक्ष के अन्तर्यामित्व को स्वीकार करना उतना ही जरूरी है जितना उसके परत्व को । नागार्जुन निरपेक्ष के अन्तर्यामित्व पक्ष की अवहेलना कर देता है। इस अन्तर्यामित्व की व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि परमसत् अब निरपेक्ष को हमारे अनुभव से सम्बन्धित किया जाता, वास्तव में हमारे अनुभव में ही कुछ ऐसा होना चाहिए जिसका निषेध कथमपि सम्भव न हो। माध्यमिक ऐसा नहीं कर सका, वेदान्त ऐसा करने में समक्ष रहा है। इसलिए वेदान्त माध्यमिक के दोषों से मुक्त रहा। कुछ इन्हीं कारणों से त्रिपाठी शंकर के वेदान्त को माध्यमिक से अधिक परिपक्व, सुसंगत पाते हैं क्योंकि जहाँ वह एक ओर निरपेक्ष के परत्व–अतिक्रामित्व की बात करता है वहीं वह उसे हमारे अनुभव में अन्तर्यामी तत्त्व के रूप में पहचानता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि त्रिपाठी के अनुसार दार्शनिक चेतना अनुचिन्तनात्मक चेतना है। यह चेतना की समान्य स्थिति से मोहभंग और उसके निषेध की चेतना है। जाहिर है दार्शनिक चेतना द्वितीय स्तरीय और समीक्षक चेतना होती है। दर्शन त्रिपाठी के अनुसार निषेध या बाध है। यह निषेध या बाध किसी धारणा विशेष या विचार विशेष का न होकर उस सम्पूर्ण विचार जगत् या विश्वास जगत् का निषेध है जिसमें हम रहते हैं। दर्शन अनुभव, आनुभविक और व्यवहार के प्रत्याख्यान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से आरम्भ ही होता है। इससे हमारे व्यावहारिक ज्ञान की सीमा में कोई वृद्धि नहीं होती है, बल्कि कहा जा सकता है कि व्यवहार के निषेध से ही यह आरम्भ होता है। उसी में इसका उत्स है। जहिर है त्रिपाठी के अनुसार दर्शन का लक्ष्य अत्यानुभविक है। अत्यानुभविक तक पहुँचने के लिये आनुभविक का निषेध करना ही होगा। व्यवहार और परमार्थ साथ–साथ नहीं चल सकते। बिना व्यवहार को अपदस्थ किये परमार्थ को स्थान नहीं प्राप्त हो सकता। प्रश्न है व्यवहार के निषेध का क्या औचित्य ? व्यवहार मिथ्या है, इसका आधार क्या है–प्रमाण क्या है? त्रिपाठी इस सन्दर्भ में माध्यमिक द्वन्द्वन्याय की विस्तृत परिवीक्षा करते हैं। और अन्त में इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि द्वन्द्वन्याय तार्किक असंगति व विरोध को प्रदर्शित करता है, पर इससे भला मिथ्यात्व कैसे निगमित किया जा सकता है ? वास्तव में तर्क या तर्कशास्त्र विरोध या आत्म–असंगति को प्रदर्शित कर सकता है पर वह सत्यासत्य का निर्णायक नहीं हो सकता। सत्यासत्य का निर्णय तो अनुभव ही कर सकता है। अतः दर्शन सही अर्थों में अनुभव की मीमांसा है, जैसा कि वेदान्त कहता है। रज्जुसर्प जैसे भ्रम व स्वप्न के प्रातिभासिक अनुभव अनुभव के धरातल पर ही सत्ता के ऐसे आयाम हैं जो अपने मृषात्व को प्रदर्शित करते हुए यह आपादित करते हैं कि अनुभव में बहुत कुछ ऐसा है जो अविशुद्ध और मिश्र है। पर इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकालना चाहिए कि अनुभव में जो है वह प्रत्याख्यानीय ही है, निषेध्य ही है। वास्तव में निषेध के तर्क से ही यह सिद्ध होता है कि अन्ततः कुछ ऐसा होना चाहिये जिसका निषेध संभव न हो । दर्शन इसी अनिषेध्य, अबाधित की तलाश है। ऐसा क्यों न माना जाए कि निषेध ही अंतिम सत्य हो ? त्रिपाठी का कहना है कि हर निषेध विधान की पूर्वापेक्षा रखता है। इसीलिए पीछे जिस सर्वव्यापी या सम्पूर्ण निषेध की चर्चा की गयी और जिसका पुरोधा बहुधा माध्यमिकों को मान लिया जाता है, उस निषेध में भी 'कुछ' शेष रह जाता है जो अकाट्य, अखण्डनीय व अनिषेध्य होता है। दर्शन जिस सत्य की खोज रहा है वह वैसा ही सत्य है। इसी के सन्दर्भ में 'अन्य' मिथ्या हैं, उनका बोध होता है। पर त्रिपाठी आगाह करते हैं कि दार्शनिकों का यह 'सत्य' निरा बुद्धि की कल्पना या तर्क की अनिवार्यता अथवा पूर्वमान्यता नहीं होना चाहिए। कहीं न कहीं इसे अनुभव से संपुष्ट होना चाहिए। जिस प्रकार मृषात्व का निर्णायक अनुभव होता है, उसी प्रकार अनुभव में ही सत्य की झाँकी मिलनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिए। और यहाँ फिर एक बार माध्यमिक की अपेक्षा वेदान्त की श्रेष्ठता खुलकर सामने आती है जो न केवल परमसत्य को अनुभवातीत और पर बताता है बल्कि उसे हमारे अनुभव में अनुस्यूत और अन्तर्यामी बताता है। शंकर स्पष्ट कहते हैं "न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्; अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः।" सत्य को अपरोक्ष होना ही चाहिए और इस अपरोक्षता का द्वार अनुभव से जाता है। अतः दर्शन अपने सही रूप में अनुभवमीमांसा है। शुद्ध वैचारिक मीमांसा से सत्ता के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता और न ही उससे सत्य या असत्य तक ही पहुँचा जा सकता है। चूंकि अनुभव ही सत्य–असत्य का निर्णयक है, अतः अनुभवमीमांसा ही दर्शन का सही रास्ता है।

त्रिपाठी के अनुसार जहाँ माध्यमिक दर्शन समस्त दृष्टियों का समीक्षात्मक विश्लेषण है, दर्शनों का दर्शन है वहीं शाङ्कर वेदान्त हमारे समस्त अनुभव (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) का समीक्षात्मक विश्लेषण है। यह अनुभव की अन्वीक्षा है। त्रिपाठी कहते हैं कि शंकर का दर्शन रूढ़िवादी और परिकल्पनात्मक नहीं है जो सत्य या सत् की प्रागनुभविक परिभाषा पर आधारित व उससे शुरू होता है और जिसे स्वतःसिद्ध और सर्वव्यापी मान लिया जाता है। ऐसा आरोप लगाया जाता है कि शंकर आनुभविक भ्रम की एक विशेष ढंग से व्याख्या करते हैं तथा इस सर्वसिद्ध–मान्य नियम बनाकर समस्त जगत् पर लागू कर देते हैं।

त्रिपाठी कहते हैं कि जब इस तरह का आक्षेप लगाया जाता है तो लोग भूल जाते हैं कि आनुभविक भ्रम व इसके बाध के सन्दर्भ में ही दर्शन का उत्स है। अगर दर्शन अनुभव से न आरम्भ हो तो फिर वह प्रत्ययों–विचारों की कपोल क्रीड़ा मात्र हो जाएगा। वस्तुतः हम सत्य की खोज के प्रति तभी उन्मुख हो सकते हैं, सत्य के प्रश्न को तभी उठा सकते हैं जब हमें पहले से ही सत्य व असत्य का कुछ अनुभव हो। साथ ही, सत्य व असत्य का निकष भी हमें सिवाय अनुभव के अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकता है। इसीलिये शंकर आनुभविक भ्रम के विश्लेषण से अपने दार्शनिक चिन्तन का आरम्भ करते हैं। शंकर इस सर्वमान्य तथ्य की दुहाई देते हैं कि मृषा वह होता है जो बाधित हो तथा सत्य वह है जो कभी बाधित नहीं होता, जो त्रिकालाबाधित हो। वस्तुतः यह सत्यता या असत्यता का कोई प्रागनुभविक सिद्धान्त नहीं है तथा न ही यह नानाविध मतों के बीच अवस्थित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोई विशिष्ट या आगन्तुक मत है, अपितु यह सर्वमान्य मत है। शंकर इसी को दार्शनिक यात्रा का प्रस्थानबिन्दु बताते हैं तथा उसकी तलाश करने को कहते हैं जो अबाध्य हो, जिसका बाध न हो। अबाधित की इस तलाश में तर्क की भूमिका सीमित होकर सामने आती है, फलतः श्रुति का आश्रय लिया जाता है। तार्किक विश्लेषण उस 'अबाध' के स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर सकता। श्रुति पूरी तरह से निरपेक्षतया यह भरोसा देती है कि आनुभविक आत्म के अधिष्ठान, अन्तर्यामी और प्रकाशक के रूप में एक सर्वव्यापी और शाश्वत आत्मा है जो स्वयंप्रकाश है और जिसका बाध कभी भी नहीं होता है। श्रुति का यह संदेश जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन विविध अनुभवों के विश्लेषण से तथा तुरीय एवं निर्विकल्पक समाधि की चौथी अवस्था से और भी पुष्ट तथा स्वीकार्य होता है। इस तरह हम देख सकते हैं कि वेदान्त अनुभव से आरम्भ होता है और अनुभव में ही उसका पर्यवसान होता है। वह आद्यन्त अनुभव की मीमांसा है, अनुभव का विज्ञान है।[22]

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी–

1. *प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी के जीवन परिचय के लिये देखें, समेकित अद्वैत विमर्श, सं. अम्बिकादत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2005 पृ0 44 । इस पुस्तक का द्वितीय परिच्छेद रमाकान्त त्रिपाठी को समर्पित है जिसमें उनके पांच लेखों का संकलन है।*
2. *आर.के.त्रिपाठी, स्पिनोजा इन द लाइट ऑफ द वेदान्त, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1957 ।*
3. *दयाकृष्ण, डेवलपमेण्ट ऑफ इण्डियन फिलॉसफी फ्रॉम 18जी सेन्चुरी आनवर्ड्स : क्लासिकल एण्ड वेस्टर्न, सेण्टर फॉर स्टडीज इन सिविलाइजेशन्स, न्यू देल्ही, 2006, पृ0 312 ।*
4. *देखें, टी.आर.वी.मूर्ति, हेराल्ड कॉवर्ड, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, न्यू देल्ही, 2003, पृ0 13 ।*
5. *भट्टाचार्य के लेखों के लिए देखें, स्टडीज इन फिलॉसफी, सं0 गोपीनाथ भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983 ।*
6. *मूर्ति का यह लेख उनके लेखों के संग्रह, स्टडीज इन इण्डियन थॉट, में संग्रहित है। देखें, स्टडीज इन इण्डियन थाट, सं0 हेराल्ड कॉवर्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983, पृ0 17–31।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

7. टी.आर.वी.मूर्ति, द सेण्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, न्यू देल्ही, 1998 ।
8. देखें, ए.के. चटर्जी, योगाचार आइडियलिज्म, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987। एल.एन. शर्मा, काश्मीर शैविज्म, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2006 । कमलाकर मिश्र, काश्मीर शैविज्म : द सेण्ट्रल फिलॉसफी ऑफ तान्त्रिज्म, श्री सतगुरू पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1999।
9. भट्टाचार्य यहाँ प्रतिपादित करते हैं कि जो भी चेतना का विषय बनता है वह मिथ्या है तथा जो मिथ्या है वह चेतना का विषय है। देखें 'द फाल्स एण्ड द सब्जेक्टिव', स्टडीज इन फिलॉसफी, पृ. 557–563
10. देखें, "इल्यूजन एज कन्यूजन ऑफ सब्जेक्टिव फन्क्शन्स", स्टडीज इन इण्डियन थॉट, पृ. 33–43 ।
11. देखें, अज्ञान, टी.आर.वी.मूर्ति, जी.आर. मलकानी एवं रासबिहारी दास, लूजैक एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1933 ।
12. देखें, सर्च फॉर द एब्सोल्यूट इन न्यो–वेदान्त, सं. जार्ज बर्च, यूनिवर्सिटी प्रेस ऑफ हवाई, होनोलुलु, 1976 ।
13. देखें, वहीं, बर्च की भूमिका । साथ ही देखें, कॉवर्ड कृत टी.आर.वी.मूर्ति, पृ. 13–14।
14. रमाकान्त त्रिपाठी, प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 197 । यह पुस्तक त्रिपाठी के लेखों का संग्रह है जिसमें कुल अठारह लेख संग्रहित हैं। प्रस्तुत लेख त्रिपाठी की इसी पुस्तक को आधार बनाकर लिखा गया है।
15. देखें, वहीं त्रिपाठी की भूमिका, पृ. ii-iii
16. देखें, त्रिपाठी का लेख "द कन्शेप्ट ऑफ फिलॉसफी", वहीं पृ. 1–7 ।
17. देखें, त्रिपाठी का लेख 'द मीनिंग ऑफ मेटाफिजिक्स', वहीं पृ. 14 ।
18. देखें, वहीं पृ0 8 ।
19. द्रष्टव्य, "द अनस्पीकेबल इन मेटाफिजिक्स", वहीं पृ. 34 ।
20. देखें, 'द कन्शेप्ट ऑफ फिलॉसफी', वहीं पृ. 5 ।
21. देखें, "निगेशन इन इण्डियन फिलॉसफी", वहीं पृ. 117–127।
22. वेदान्त, त्रिपाठी के अनुसार, किसी प्रकार का प्रागनुभविक चिन्तन नहीं है, यहाँ आत्मा की सत् की कोई प्रागनुभविक परिभाषा नहीं दी गयी है। यह अनुभव का–अनुभव में जो पहले से ही निहित है– उसका विश्लेषण है। वेदान्त कोई नया अनुभव या ज्ञान नहीं देता है और न ही ऐसा देने का दावा करता है। यह हमारे अनुभव में ही जो प्रमात्व है उसे उसके अप्रमात्व से, सत्य को असत्य से, प्रमा को भ्रम से विविक्त कर–विश्लिष्ट कर प्रमा की ओर, सत्य की ओर, ज्ञान की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। यदि अनुभव में सिर्फ ज्ञान का ही अंश हो, उसमें कल्पना, भावना, संवेग आदि भी मिश्र न हो तो फिर वेदान्तीय विश्लेषण की आवश्यकता ही न हो । चूँकि अनुभव में वे मिश्र होते हैं इसलिये विश्लेषण अपरिहार्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय नीतिशास्त्र का औपनिषद् प्रस्थान और रामचंद्र दत्तात्रेय राणाडे की अभ्युक्तियाँ

अम्बिकादत्त शर्मा

'भारतीय चिन्तन का पर्यवसान वेदान्त में होता है'– यह प्रो. रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे की मूलभूत दृष्टि रही है। उनके द्वारा भारतीय दर्शन पर किया गया इतिहासपरक लेखन, उपनिषद् और गीता को केन्द्र में रखकर भारतीय अध्यात्म–परम्परा को समझने का प्रयास और विभिन्न संत परम्पराओं के माध्यम से वेदान्त चिन्तन–परम्परा का पल्लवन[1] – सबके सब का रूझान यही दिखाना रहा है कि वेदान्त जिसका उत्स उपनिषदों में प्राप्त है, वही अद्वैत–दृष्टि भारतीय–चिन्तन की पार्यन्तिक स्थिति है। वैसे लोग जो भारतीय परम्परा को बहुलवादी बौद्धिक परम्परा के रूप में देखते हैं, उनके लिए प्रो. राणाडे का यह वक्तव्य" भारतीय चिन्तन का पर्यवसान वेदान्त में होता है"– एक बलीयसी वक्तव्य ही प्रतीत हो सकता है। परन्तु यदि किसी दार्शनिक दृष्टि की पार्यन्तिक प्रस्थिति और भूमिका को परखने का एक मापदण्ड 'सांस्कृतिक स्वीकरण' भी हो सकता है तो प्रो. राणाडे की इस अभ्युक्ति को उचित ठहराया जा सकता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के बहुआयामी विकास में अद्वैतवादी चिन्तन धारा वैदिक परम्परा में, बौद्ध परम्परा में, व्याकरण परम्परा में, शैव–शक्ति परमम्परा में, साहित्य परम्परा में, और यहाँ तक कि धर्म–शास्त्र और स्मृतियों के चिन्तन में भी मूलगामी रूप से प्राप्त होती है। परन्तु देखने लायक बात यह है कि वेदान्त को जितना सांस्कृतिक स्वीकरण भारतीय परम्परा में प्राप्त हुआ है, उसका किसी अन्य अद्वैती चिन्तनधारा को नहीं मिला है। इसलिये वेदान्त की प्रतिष्ठा भारतीय परम्परा में एक 'धर्म' की तरह है, जिसने एक समग्र–जीवन–दर्शन का रूप धारण किया है। यह बात अलग है कि वेदान्त के विविध सम्प्रदायों के आन्तरिक मतभेद कम नहीं, फिर भी सबकी आत्मा एक है और वह है – एकमेवाद्वितीयम्।[2] अतः उपनिषदों में मौलिक रूप से उपलब्ध वेदान्त की अद्वैतवादी तत्त्वदृष्टि और मूल्य दृष्टि को भारतीय चिन्तन परम्परा का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर्यवसान–स्थल समझना सर्वथा अनुचित भी नहीं है। इसीलिये प्रो. राणाडे औपनिषद् ज्ञान–गंगा को बहुत महत्त्व देते हैं और यह भी मानते हैं कि उपनिषदों में उपलब्ध विचार वैदिक ऋचाओं का शब्दान्तर के साथ सामान्यीकरण नहीं बल्कि एक स्वतंत्र प्रस्थान है।

I

प्रस्तुत प्रसंग में मेरा उद्धेश्य भारतीय नीतिशास्त्र के औपनिषद्–प्रस्थान पर प्रो. राणाडे के विचारों पर पुनर्विचार करना है। इसके लिए भारतीय नीतिशास्त्र की आधारिक संरचना और उस पर की जाने वाली आलोचनाओं को सन्दर्भित करते हुए आगे बढ़ना उचित हो सकता है। द्रष्टव्य है कि प्रो. ए.जे.एयर, जो पाश्चात्य नीतिशास्त्र के संस्थापक विद्वानों से एक रहे हैं, उन्होंने नॉवेल स्मिथ की प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिक्स' की प्रस्तावना लिखते हुए नैतिक उपदेशक और नीति दार्शनिक में स्पष्ट अन्तर को प्रस्तावित किया था। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए आचार–संहिता मूलक नैतिक चिन्तन और दार्शनिक नैतिक चिन्तन में भी स्वरूपगत महत्त्वपूर्ण अन्तर को रेखांकित किया जा सकता है। उपदेशात्मक नैतिक चिन्तन वह है जो हमारे समक्ष विविध–निषेध परक एक व्यापक आचार संहिता को प्रस्तावित करता है और साथ ही साथ उसके अनुपालन के लिये हमें प्रोत्साहित भी करता है। इसके विपरीत नैतिक दार्शनिक चिन्तन हमारे समक्ष न तो किसी प्रकार की आचार–संहिता का प्रस्ताव करता है और न ही उस पर अमल करने के लिये हमें प्रोत्साहित करता है। वस्तुतः नैतिक दार्शनिक चिन्तन अपने स्वरूप में विश्लेषणात्मक और विमर्शात्मक प्रकृति का होता है। उसका कार्य नैतिक निर्णयों के स्वरूप की विवेचना करते हुए उन विशिष्ट मानकों की खोज–बीन करना है जो हमारे कर्मों के औचित्यानौचित्य के निर्धारण में सहायक होते हैं।

अब भारतीय नैतिक चिन्तन के स्वरूप को लेकर एक आम धारणा बनी हुई है कि भारत में आचार–संहिता मूलक नैतिक चिन्तन का एक लम्बा और समृद्ध इतिहास है। वैदिक परम्परा के ब्राह्मण ग्रन्थों, गृहय सूत्रों, धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रीय परम्परा के विभिन्न स्मृतियों एवं नीति ग्रन्थों में विधि–निषेध मूलक आचार–संहिता के व्यापक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। भारतीय परम्परा की निज शब्दावली में इसे ही धर्म कहा गया है। यह धर्म पद न्याय संज्ञा से भी अभिहित हुआ है। यहाँ न्याय का तात्पर्य उन आचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संहिताओं से है जिनका प्रतिपादन विभिन्न समयों में मनु आदि स्मृतिकारों ने किया है (धर्मो नाम न्यायः। किं नाम न्यायः? मन्वादिक प्रतिपादित आचारो नाम न्यायः)। परन्तु दूसरी ओर आलोचनात्मक स्वर में यह भी कहा जाता है कि भारतीय परम्परा में दर्शनिक नैतिक चिन्तन उस रूप में व्यवस्थित रूप से नहीं हुआ है, जितना कि इस प्रकार का चिन्तन ग्रीक दार्शनिकों और आधुनिक युग के पाश्चात्य नैतिक दार्शनिकों ने किया है। भारतीय नैतिक चिन्तन के प्रति इस प्रकार की आलोचनात्मक दृष्टि एक सीमा तक सहि भी है, क्योंकि इसके भाजन के लिए जो कुछ किया जाना चाहिए था, वैसा कुछ किया नहीं गया। भीखनलाल आत्रेय (भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास), एस. के. मैत्रा (एथिक्स ऑफ दी हिन्दूज), राजबली पाण्डेय (भारतीय नीति का विकास) और चन्द्रवरकर (मैनुअल ऑफ हिन्दू एथिक्स), जो भारतीय नीतिशास्त्र के प्रथम कोटि के विद्वान् माने जाते हैं, उन्होंने बहुलांश में भारतीय नैतिक चिन्तन को आचार–संहिता मूलक नीति चिन्तन के रूप में ही प्रस्तुत किया है।[3] बाद के लेखकों ने भी इसी रूप–रेखा का अनुकरण किया है। यद्यपि औपनिषद्, आख्यानों, रामायण, महाभारत, गीता, धर्मशास्त्रीय परम्परा के स्मृति ग्रन्थों–नीति ग्रन्थों और यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य को लेकर गहन चिन्तन –मनन हुआ है और उनमें अनेकों ऐसे अर्थगर्भ –सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनके अन्दर से भारतीय परम्परा का नैतिक दार्शनिक चिन्तन झाँकता हुआ प्रतीत होता है।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि हे! अर्जुन कर्त्तव्य निर्णय के लिए जिस प्रतिज्ञा को आधार बना रहे हो, कि कौन और कितने मरेंगे, यह कर्त्तव्य बनने के लिए आधार बनने योग्य नहीं है। प्रज्ञावान व्यक्ति के लिए जीवन और मृत्यु का कोई महत्त्व नहीं है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च–भाषसे।
गतानुसुगता सूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।[4]

श्री कृष्ण की यह अभ्युक्ति कोई अवसर प्राप्त कूटनीति अथवा परिस्थिगत उपायकौशल नहीं बल्कि घोर आर्थिक–राजनीतिक प्रकार की समस्या के प्रति एक तत्त्वमीमांमासीय प्रतिपत्ति में मूलित सनातन नैतिक दृष्टि है जिसमें भारतीय नैतिक चिन्तन को आधार प्रदान करने की दार्शनिक दृष्टि व्यावर्तक और सारभूत अर्थ में व्यंजित होती है। ऐसी भी बात नहीं कि ऐसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टि केवल गीता में ही उपलब्ध है। देखा जाये तो चार्वाक नीति भी एक तत्त्वमीमांसा को पूर्व गृहीत कर फलित होती है। चार्वाक की प्रसिद्ध उक्ति 'यावज्जीवं सुखं जीवेद्' एक नैतिक दृष्टि को प्रस्तावित करती है और यह नैतिक दृष्टि 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' से लक्षित होने वाली नितान्त भौतिकवादी तत्त्वदृष्टि से निगमित होती है। बौद्ध और जैन परम्परा का नैतिक चिन्तन भी एक तत्त्वदृष्टि का आश्रय लेकर ही आगे बढ़ता है। औपनिषद् दृष्टि भी ऐसी ही है। ईशावास्योपनिषद् के मंत्र का यह भाग 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' एक तत्त्वमीमांसीय अभिकथन है और उसका अन्तिम भाग 'तेनत्यक्तेन भुंजीथा' उससे निगमित होने वाला नैतिक अभिकथन है।

प्रो. राणाडे उन प्रारम्भिक व्यक्तियों में रहे हैं जिन्होंने भारतीय नीति चिन्तन की इस विशिष्टता को देखा कि भारतीय परम्परा के परस्पर विरोधी नैतिक चिन्तन भी परस्पर विरोधी तत्त्व दृष्टियों में मूलित हैं। यहाँ समुदाचार का सामान्यीकरण करते हुए औचित्यनौचित्य का निर्धारण नहीं किया है। भारतीय परम्परा में यह जानते हुए कि उपनिषदों में तत्त्वदृष्टि की प्रधानता है, लोक–व्यवहार का नियमन उपनिषदों का प्रतिपाद्य नहीं है, फिर भी उन्होंने उपनिषदों को केन्द्र में रखकर भारतीय नीतिशास्त्र पर विचार किया है। इतना ही नहीं प्रो राणाडे की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने भारतीय नीतिशास्त्र के औपनिषद् प्रस्थान को पहचाना है और यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि औपनिषद् अन्तर्दृष्टियों का संप्लव सम्पूर्ण भारतीय नीति चिंतन में किस प्रकार हुआ है। 'उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण' नामक पुस्तक में उन्होंने संभतः पहली बार नैतिकमानदण्डों को सामने लाने का प्रयास किया ताकि अवैदिक परम्परा और सामी परम्परा के नैतिक चिन्तन से औपनिषद् नीति शास्त्र को अलग दिखाया जा सके।[5]

II

औपनिषद् नीति दर्शन पर विचार करते हुए प्रथम दृष्ट्या इस आलोचना का सामना करना पड़ता है कि औपनिषद् चिन्तन का पर्यवसान ज्ञानमोक्षवाद में होता है। यह नैतिककता की दृष्टि से अतिक्रामी स्थिति है। उदाहरण के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति विधि –निषेध, पाप–पूण्य से उपर उठ जाता है। ये सभी उसका संस्पर्श तक नहीं करते। सन्यासी और आत्मज्ञानी के लिये भी यही बात कही जाती है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन पर धर्म–अधर्म की कसौटियाँ लागू नही होतीं। स्वयं भगवद्गीता में भी यही दृष्टि देखी जा सकती है, जबकि कर्म– विवेचन उसका मुख्य विषय है और उसे उपनिषदों का ही निचोड़ माना जाता है। श्री कृष्ण अर्जुन को स्पष्ट निर्देश देते हैं कि तुम सभी धर्मों को छोडकर मेरी शरण गहो तो एक बारगी सभी पापों से मुक्त हो जाओगे। इसी तरह देखा जाए तो निष्काम कर्म योग की दृष्टि भी नैतिकता का अतिक्रामी ही दिखती है। एक ओर निष्काम भाव से किये गये कर्म पर उचित –अनुचित के साधारण मानदण्ड लागू नहीं होते तो दूसरी ओर निष्कामता की परिभाषा ही 'निस्त्रैगुण्य' के रूप में की जाती है (निस्त्रैगुण्य भवार्जुनः)।

प्रो. राणाडे ने अपने लेखन के विस्तृत फलक पर इस प्रकार की आलोचनाओं का दृढ़ता से सामना किया है। उनके अनुसार आलोचक बुद्धि से यह सबकुछ जो दूषण दिखाई पड़ता है वही संस्थापक बुद्धि से औपनिषद् नीति चिन्तन का भूषण है। उपनिषदों का नैतिक चिन्तन नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मन् के तत्त्वमीमांसीय सन्दर्भ में विकसित हुआ है। यही आत्मन् मनुष्य का पारमार्थिक स्वरूप है और औपनिषद् नैतिकता इसी आत्मा की "स्वरूप–सिद्धि" का साधन है। प्रो. राणाडे इस बात को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि "स्वरूप सिद्धि" का प्रश्न औपनिषद् चिन्तन के केन्द्र में है और इसके क्रेन्द्रीभूत होने से ही भारतीय नैतिक चिन्तन में एक प्रस्थानमूलक परिवर्तन घटित हुआ है। यद्यपि प्रो. राणाडे ने अपनी रचनाओं में उसका खुलासा नहीं किया है फिर भी देखा जाय तो यह अभ्युक्ति अनुचित भी नहीं है। वैदिक नीति चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में औपनिषद् नैतिक चिन्तन में घटित हुए प्रस्थान मूलक परिवर्तन को और अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। वैदिक नीति चिन्तन ऋतमूलक है और इसी कारण वैदिक दृष्टि सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त एक नैतिक व्यवस्था स्वीकार करती है। इसीलिए 'देवं भूत्वा देवं यजेत्' इसका आदर्श है। देव ऋत् का उल्लंघन नहीं करते। उन्हें ऋत्विज कहा जाता है। परन्तु मनुष्य की स्वतंत्रता में ऋत् के विपरीत आचरण करने की सम्भावना निहित है। अतः ऋतानुगामी जीवनचर्या के द्वारा मनुष्य में उत्तरोत्तर देवत्व का विकास ही वैदिक नीति चिन्तन का साध्य है। इसीलिये' 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' अर्थात् ऋत् को धारण करने वाली प्रज्ञा, उसके साथ प्रचोदनात्मक सम्बन्ध से रहने वाली प्रज्ञा को, मानव बुद्धि का आदर्श कहा गया है। (धीयो योनः प्रचोदयात्)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऋग्वेद के सर्वाधिक निगुढ़ मंत्र 'गायत्री' का यही नीतिदार्शनिक निहितार्थ है। परन्तु इसके उलट औपनिषद् नैतिक चिन्तन का लक्ष्य आत्मन् की स्वरूप–सिद्धि है, क्योंकि वह स्वरूपतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्य है। उस का संसारी होना, देही होना (नव द्वारे पुरे देही) उसकी बन्धनग्रस्त स्थिति है। अतः संसारवाद, कर्मवाद और ज्ञानमोक्षवाद के व्यापक सन्दर्भ में विकसित हुए औपनिषद् नीति चिन्तन के केन्द्र में यही आत्मा है और उसके केन्द्रीभूत होने से ही औपनिषद् नैतिक चिन्तन को एक सबल तत्त्वमीमांसीय आधार प्राप्त होता है। ऐसा तत्त्वमीमांसीय आधार भले किसी को नैतिकता का अतिक्रामी प्रतीत हो, परन्तु है यह मनुष्य का ही पारमार्थिक और अंतरंग स्वरूप और उसका विस्तार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' पर्यन्त है। प्रो. राणाडे की दृष्टि में औपनिषद् नैतिक प्रस्थान का यही वैशिष्ट्य है। यदि आत्मन् की स्वरूप सिद्धि अर्थात् उसका ब्रह्मभाव को प्राप्त होना औपनिषद् नैतिक चिन्तन के लिए लक्ष्यभूत है तो उपनिषदों में जीवन और जगत् के प्रति वैराग्य और निवृत्तिवादी प्रवृत्ति का यत्र–तत्र दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही है। बहुतेरे उपनिषद् कर्मवाद की हेयता को विभिन्न तरीकों से उजागर भी करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में अंगिरा ऋषि का कथन है कि "भव सागर को पार करने के लिए यज्ञ रूप प्लव से–यज्ञ–याज्ञ आदि के बेड़े अदृढ़ हैं, बिलकुल ढीले– ढाले हैं। इनमें अठारह प्रकार के कर्म कहे गये हैं, परन्तु सबके सब अवर और हीन कोटि के हैं। उनमें से कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। जो मूढ़ व्यक्ति इन्हें श्रेष्ठ समझता है और इन्हें सम्पन्न कर आनन्द मानता–फिरता है, वह बारम्बार जरा –मृत्यु के बन्धन में फंसता रहता है।[6] वस्तुतः उननिषदों की ऐसी दृष्टि के पीछे जो मूल मंतव्य छिपा हुआ है, वह यह कि आत्मन् की स्वरूप–सिद्धि एक ज्ञानात्मक उत्कर्ष है और इस उत्कर्ष के प्रति कर्म की कोई साधकतम भूमिका नहीं हो सकती। मुण्डकोपनिषद् की ही भाषा में कहें तो आत्मा की स्वरूप–सिद्धि यहाँ लक्ष्यभूत है और वह आत्मा अकृत है। जो अकृत है उसे 'कृत' से कैसे प्राप्त किया जा सकता है? परन्तु उपनिषदों में एक दसरी दृष्टि भी प्राप्त होती है। वह यह कि पुरुष का